ज़िंदगी की किताब

एक बेहतर जीवन की राह

وَمَا تَوْفِيقِي إِلَّا بِاللَّهِ

मौलाना वहीदुद्दीन ख़ान

ज़िंदगी की किताब

एक बेहतर जीवन की राह

मौलाना वहीदुद्दीन ख़ाँ

सी पी एस
हिन्दी संपादकीय टीम

गुडवर्ड बुक्स

First published 2026
This book is copyright free
This book is a Hindi translation of
Maulana Wahiduddin Khan's Urdu book, *Kitab-e-Zindagi.*

Goodword Books
A-21, Sector 4, Noida-201301, Delhi NCR, India
Tel. +91 120 4131448, Mob. +91 8588822672
info@goodwordbooks.com
www.goodwordbooks.com

CPS International
Centre for Peace and Spirituality International
1, Nizamuddin West Market, New Delhi-110 013, India
Mob. +91-9999944119
info@cpsglobal.org
www.cpsglobal.org

Center for Peace and Spirituality USA
391 Totten Pond Road, Suite 402,
Waltham MA 02451, USA
Mob. 617-960-7156
email: info@cpsusa.net

विषय सूची

परिचय	7	शरीर का सारा खून	31
		कारण अपने अंदर	32
अध्याय 1		अपनी ग़लती	34
बुद्धिमानी की बातें	**9**	बचत से कमाई	35
अनुभवी व्यक्ति	10	युद्ध के बिना विजय	36
बेहतर हल	11	हिकमत की बात	37
रचनात्मक योग्यता	12	सादा उसूल	39
मेहनत के ज़रिए	13	खतरा नहीं	40
मक़सदियत (उद्देश्यपूर्णता)	15	जोश बिना होश	41
बचकर चलिए	16	रिवाजी ज़ेहन	43
हिकमत वाला तरीक़ा	17	कामयाबी की शर्त	44
चेतना का निर्माण	18	ज़िंदगी का सफ़र	45
सफलता कैसे	20	दुश्मन से सीखना	46
एक नसीहत	21	बन्द ज़ेहन	48
क़ीमत का मसला	22	ऊंची उड़ान	49
असफलता और सफलता	23	अज्ञानता	50
कारोबारी स्थायित्व	25	हार मानकर	51
कर्म, न कि प्रतिक्रिया	26	सफलता का राज़	52
गुस्सा न दिलाओ	27	मुजरिम कौन	54
अधिकार और लाचारी	29	मुश्किल में आसानी	55
अपनी कमज़ोरी	30	दुकानदारी	56

विषय सूची

मौजूदा समाज	57	ज़िंदा या मरा हुआ	88
सपने में	58	एक आत्महत्या	89
सफल यात्रा	60	ज़िन्दगी का राज़	90
हर तरह के अवसर	61	इंसान की महानता	91
असमर्थता के बावजूद	62	उल्लू का सबक़	93
सफलता का रहस्य	64	खोने के बाद भी	94
कितना फ़र्क़	65	कम समझना	95
उद्देश्य का महत्व	66	मानसिक एकाग्रता	96
उल्टा काम	68	क़ुदरत का फ़ैसला	97
न्याय ज़िंदा है	69	सफलता का टिकट	99
तखरीब (विनाश) नहीं	70	खोज	100
शब्द या सच्चाई	71	सेवा का चमत्कार	101
बड़ी चिंता	73	मानसिक निर्माण	102
समय के बाद	74	अनिवार्य समस्या	103
चर्चिल का इक़रार (स्वीकारोक्ति)	75	प्रकृति का पाठ	105
		जीवन की यात्रा	106
कितना मुश्किल कितना आसान	76	फ़र्ज़ी वहम	107
स्वीकृति	78	एक उदाहरण	108
हौसला	79	गुस्से का परिणाम	110
अपने ख़िलाफ़	80	एक मैदान	111
ऊँची सोच	82	विनाशकारी योजना	112
जरूरी तैयारी	83	सुधार का एहसास	113
व्यापारिक सफलता	84	बेहतर हुकूमत	114
सरल उपाय	85	सही मशवरा	116
ज़माने के ख़िलाफ़	87	बड़ा दिल	117

विषय सूची

फ़र्क क्यों 118

प्रयास, नतीजा 119

युद्ध और शांति 120

एक घटना दो अंजाम 121

कीमत ज़रूरी 123

निर्माण की शक्ति 124

दो तरह के नेता 125

ज़िंदगी और मौत 127

फितरत की ओर 128

हिकमत (समझदारी) का तरीक़ा 129

अख़लाक़ (नैतिकता) का फल 130

मेहनत का करिश्मा 131

बुद्धिमानी 133

बे-मसला इंसान 134

एकमात्र रास्ता 135

रुकावटें सीढ़ी हैं 136

एक घटना 137

आसान तरीक़ा 138

ज़िंदगी का राज़ 139

हिकमत की बात 140

मक़सद का तक़ाज़ा 142

अध्याय 2

समझदारी के पन्ने 145

सोच का फ़र्क 146

उपाय, टकराव नहीं 148

दूसरा मौक़ा 150

कामयाबी का टिकट 152

मिठास का इज़ाफ़ा 154

भविष्य पर नज़र 157

बीस साल बाद 160

चैलेंज, न कि ज़ुल्म 162

असाधारण मनुष्य 164

समय का महत्व 166

शेर का तरीक़ा 168

खून की जगह पानी 170

आसान हल 172

ज्ञान का महत्व 174

महरूमी के बाद भी 176

भड़काइए नहीं 179

दुश्मन में दोस्त 181

असफलता में सफलता 183

फासला बनाए रखो 185

मुक़ाबले की हिम्मत 188

ज़मीर की ताक़त 190

दिमाग़ की बढ़ोतरी 192

इतिहास का सबक़ 194

विषय सूची

एकता की ताक़त 196

प्राकृतिक ढाल 198

मकसद का एहसास 200

ग़लतफ़हमी 202

लाभ पहुँचाने की ताक़त 204

यक़ीनी हल 207

जंग के बिना जीत 208

कार्य-कुशलता 211

उम्मीद का पैग़ाम 213

सफलता का राज़ 215

तजुर्बे की ज़बान से 217

सीख देने वाले 220

सहनशीलता का मुद्दा 222

मौक़ों का इस्तेमाल 224

ज़िंदगी का उसूल 226

अध्याय 3

बुद्धिमत्ता के विचार 229

शक्ति का खज़ाना 230

संभावना खत्म नहीं होती 233

सेवा का करिश्मा 236

सेवा की बरकत 238

सहनशीलता:
प्रकृति का सिद्धांत 239

एक ग़लतफ़हमी 242

अथाह संभावनाएँ 245

नमूने के अल्पसंख्यक 247

समझौता-आधारित नीति 252

हक़ीकत-पसंदी की तरफ़ 253

अमेरिका और रूस 255

पेरेस्त्रोइका 257

चर्चा का निष्कर्ष 259

यह इस्लाम नहीं 260

हक़ीक़त-पसंदी 263

एक तुलना 264

उच्च सफलता 268

इसमें एक सबक़ है 271

जीवन का रहस्य 274

निर्माण की ताक़त 278

परिचय

मनुष्य को छोड़कर पूरा ब्रह्माण्ड बहुत ही मज़बूत कानूनों के तहत चल रहा है। ब्रह्माण्ड की हर चीज़ का एक निश्चित नियम होता है। वह हमेशा उसी नियम का पालन करता है। हर चीज़ इस नियम के अनुसार अपनी पूर्णता की ओर बढ़ती है।

इसी तरह, मानव जीवन के लिए भी प्रकृति का एक निर्धारित नियम है। जो व्यक्ति इस नियम का पालन करता है, वह इस दुनिया में सफल होता है। जो व्यक्ति इस निर्धारित नियम से विचलित होता है, वह यहाँ असफल और निराश हो जाता है।

इस नियम का सीधा मतलब यह है कि इंसानी ज़िंदगी मुक़ाबले पर चलती है। यहाँ हर व्यक्ति को दूसरों का सम्मान करना चाहिए, और अपना हक़ पाने के लिए उसे मेहनत और मुक़ाबला करना पड़ता है।

इस सिद्धांत का मतलब यह है कि इस दुनिया में जब भी किसी व्यक्ति या राष्ट्र को कुछ मिलता है, तो वह उसकी क्षमता के आधार पर मिलता है, और अगर कुछ छिन जाता है तो यह उसकी कमी की वजह से छिनता है। इसलिए, अगर जीवन की दौड़ में कोई वर्ग वंचित रह जाए, तो उसे दूसरों से शिकायत करने के बजाय अपने अंदर उस कारण को ढूंढना चाहिए, जिसने उसे वंचित कर दिया।

यह किताब अलग-अलग सिद्धांत से इसी मूल नियम को समझाती है। इसे सरल ढंग से एक निश्चित व्यवस्था के अनुसार क्रमबद्ध किया गया है। पहले एक पृष्ठ के लेख रखे गए हैं, फिर दो पृष्ठ के लेख, और उसके बाद कई पृष्ठों के लेख। इसी आधार पर इसे तीन अध्यायों में बाँटा गया है—बुद्धिमानी की बातें, समझदारी के पन्ने और बुद्धिमत्ता के विचार।

वहीदुद्दीन

19 मार्च 1992

अध्याय 1

बुद्धिमानी की बातें

अनुभवी व्यक्ति

एन लैंडर्स (Ann Landers) ने अपने अनुभव पर एक लेख लिखा है। इसका एक हिस्सा यह है: बुद्धिमानी यह है कि व्यक्ति ग़ुस्से पर काबू पा सके, और मतभेदों को हिंसा और विध्वंस के बिना हल कर सके। अनुभव सहनशीलता का नाम है, इसपर आमादा होना कि तत्काल खुशी को लंबे समय बाद मिलने वाले लाभ के लिए त्याग सकें। अनुभव असल में दृढ़ता है, रुकावटों के बावजूद योजना को पूरा करने के लिए अपनी मेहनत जारी रखना। अनुभव नि:स्वार्थता है, दूसरों की ज़रूरतों में उनकी मदद करना है। अनुभव इस क्षमता का नाम है कि हम असहमति और निराशा का सामना बिना किसी कड़वाहट के कर सकें। अनुभव विनम्रता है। एक परिपक्व व्यक्ति यह कहने में सक्षम होता है कि "मैं गलती पर था"। और जब वह सही साबित होता है, तो वह यह नहीं कहता, "मैंने तुम्हें पहले ही बता दिया था"। अनुभव का मतलब है विश्वसनीय और ईमानदार होना, अपने वादे को किसी भी हालत में निभाना। पक्वता इस क्षमता का नाम है कि हम उन चीज़ों के साथ शांतिपूर्वक रह सकें जिन्हें हम बदल नहीं सकते।

> Maturity is the ability to control anger, and settle differences without violence or destruction. Maturity is patience, the willingness to give up immediate pleasure in favour of the long-term gain. Maturity is perseverance, sweating out a project despite setbacks. Maturity is unselfishness, responding to the needs of others. Maturity is the capacity to face unpleasantness and disappointment without becoming bitter. Maturity is humility. A mature person is able to say, "I was wrong.'' And when he is proved right, he does not have to say, "I told you so.'' Maturity means dependability, integrity,

Keeping one,s word. Maturity is the ability to live in peace with things we cannot change

परिपक्व व्यक्ति वह है जिसमें वीरता के गुण होते हैं। जो सत्य को स्वीकार करता है। जो प्रतिक्रियाओं से ऊपर उठकर मामला करे। जो अपनी भावनाओं को काबू में रख सके। जिसमें असहमति को धैर्य से सहने की क्षमता हो। जो स्टील की तरह भरोसे वाले चरित्र का मालिक हो।

यही अनुभव मानवता की महानता है। जो व्यक्ति इन गुणों से सम्पन्न होता है, वही परिपक्व है। वही इंसानियत के उच्चतम स्तर पर पहुंचा है। ऐसे लोग ही जीवन में वास्तविक उपलब्धियाँ हासिल करते हैं। और यही लोग किसी भी समाज को विकास और सफलता की ऊँचाईयों तक ले जाते हैं।

बेहतर हल

सोचना (thinking) हमारी दुनिया की एक बेहद रहस्यमय प्रक्रिया है। आधुनिक समय में इस विषय पर कई किताबें लिखी गई हैं। इन खोजों ने इंसान के ज्ञान को बढ़ाने से ज़्यादा उसकी हैरानी को बढ़ा दिया है। कुछ किताबों के नाम इस प्रकार हैं:

- Dr. Rapaport, *Toward a Theory of Thinking*, 1951
- W.E. Vinacke, *The Psychology of Thinking*, 1952
- F.C. Bartlett, *Thinking*, 1958
- Max Wertheimer, *Italian Productive Thinking*, 1959

इन अध्ययन के माध्यम से कई नई जानकारियां सामने आई हैं। एक अहम जानकारी यह है कि इंसानी दिमाग में हमेशा एक बेहद महत्वपूर्ण प्रक्रिया चलती रहती है। मनोवैज्ञानिक इसे “मानसिक तूफान” (brainstorming) कहते हैं। यह

प्रक्रिया तब होती है जब दिमाग किसी नए चैलेंज का सामना करता है। ऐसे समय में दिमाग अपनी स्वाभाविक क्षमता से समस्याओं के नए हल खोजने लगता है। यह प्रक्रिया इस संभावना को बढ़ा देती है कि समस्या का कुछ बेहतर हल (superior solution) सामने आ जाए:

> A process called brainstorming has been offered as a method of facilitating the production of new solutions to problems. These unrestricted suggestions increase the probability that at least some superior solutions will emerge (*Encyclopedia Britannica*, 1984, U.S.A., Vol. 18, p. 357).

समस्या का बेहतर हल मिल जाने के बाद सफलता उतनी ही निश्चित हो जाती है जितना शाम के बाद सुबह का आना।

ईश्वर का यह कितना अनोखा तरीक़ा है कि उसने कठिनाइयों को हमारी प्रगति की सीढ़ी बना दिया।

रचनात्मक योग्यता

यूनिवर्सिटी के एक प्रोफेसर से पूछा गया कि आपके अनुसार शिक्षित होने की पहचान क्या है। प्रोफेसर ने उत्तर दिया—वह व्यक्ति जो “नहीं” से “है” की रचना कर सके:

> The person who can create things out of nothing.

यह परिभाषा बिल्कुल सही है। इसमें कोई शक नहीं कि किसी व्यक्ति के शिक्षित और समझदार होने की सबसे खास पहचान यही है कि वह कुछ नया खोज सके। ज़ाहिर तौर पर “नहीं” जैसे हालात में वह “है” की सच्चाई को सामने ला

सके। यह योग्यता जीवन के हर क्षेत्र से जुड़ी है, चाहे वह ज्ञान का क्षेत्र हो या व्यापार का, सामाजिक मामलों की बात हो या राष्ट्रीय मामलों की। जीवन के हर पहलू में वही व्यक्ति सबसे अधिक तरक्की करता है जो इस मानव योग्यता का सबूत दे सके।

इस दुनिया में इंसान को अधूरी जानकारी से उच्च ज्ञान की खोज करनी होती है। उसे प्रतिकूल परिस्थितियों में अनुकूल अवसर ढूंढने होते हैं। उसे दुश्मनों के बीच से अपने दोस्त की पहचान करनी होती है। उसे असफलताओं के तूफान में सफलता का रास्ता तय करना होता है। उसे यह साबित करना होता है कि वह जीवन के खंडहरों से अपने लिए एक नया और शानदार महल खड़ा कर सकता है। जो लोग इस रचनात्मक योग्यता का प्रमाण देते हैं, वही सही मायनों में इंसान कहलाने के योग्य हैं। जो लोग इस योग्यता का सबूत नहीं दे पाते, वे असल में जानवरों जैसे हैं, चाहे वे ऊपर से इंसानों की तरह कपड़े पहने हुए हों।

यह रचनात्मकता (creativity) ही किसी व्यक्ति या समाज की सबसे बड़ी पूंजी है। यही चीज़ उसे इस दुनिया में ऊंचा स्थान दिलाती है। जो लोग रचनात्मकता की योग्यता खो देते हैं, वे किसी और तरीके से अपना स्थान नहीं बना सकते, चाहे वे कितना भी शोर-शराबा क्यों न करें। चाहे उनके विरोध और शिकायतों की आवाज़ से धरती और आसमान गूंज उठें। वे लाउडस्पीकर के शोर से थोड़ी हलचल तो पैदा कर सकते हैं, लेकिन लंबे समय तक टिकने वाला मज़बूत किला कभी नहीं बना सकते।

मेहनत के ज़रिए

बापसी सिधवा (Bapsi Sidhwa, b. 1936) एक पारसी महिला हैं। वे पाकिस्तान (लाहौर) की रहने वाली हैं। आजकल वे टेक्सास (अमेरिका) की यूनिवर्सिटी ऑफ ह्यूस्टन में प्रोफेसर हैं। अंग्रेज़ी भाषा में उनके लिखे गए उपन्यास अंतरराष्ट्रीय स्तर के पब्लिशिंग हाउसों से प्रकाशित होते हैं।

हैरत की बात यह है कि बापसी सिधवा की औपचारिक शिक्षा बिल्कुल नहीं हुई। वे लाहौर के एक स्कूल में शुरुआती शिक्षा ले रही थीं कि उन्हें पोलियो की बीमारी हो गई। उनके माता-पिता ने यह सोचकर कि उनकी शिक्षा अब संभव नहीं, उन्हें स्कूल से निकाल लिया। इसके बाद उन्होंने घर पर ट्यूटर की मदद से पढ़ाई शुरू की, लेकिन यह सिलसिला भी ज़्यादा दिनों तक नहीं चला।

अब बापसी सिधवा के इस दुःख ने उनका मार्गदर्शन किया। वे खुद से पढ़ने लगीं। वे हर समय अंग्रेज़ी की किताबें पढ़ती रहती थीं। उनके शब्दों में, वे एक "कभी न तृप्त होने वाली पाठक" (voracious reader) बन गईं। अंततः उन्होंने अपनी मेहनत से ऐसा स्तर हासिल कर लिया कि वे अंग्रेज़ी में लेख लिखने लगीं। मगर 2 साल तक उन्हें अपने भेजे गए लेखों के जवाब में केवल "अस्वीकृति पर्चियां" (rejection slips) मिलती रहीं। उनकी पहली किताब का मसौदा आठ साल तक उनकी अलमारी में धूल खाता रहा। यहां तक कि उन्हें निराशा के दौरे पड़ने लगे।

आखिरकार हालात बदले। उनके लेख विदेशी मैगज़ीनों में छपने लगे। अब वे विश्व स्तर पर पढ़ी जाने वाली अंग्रेज़ी लेखिका बन चुकी हैं। औपचारिक डिग्री न होने के बावजूद वे अमेरिका की एक यूनिवर्सिटी में "रचनात्मक लेखन" (creative writing) पढ़ा रही हैं (*टाइम्स ऑफ इंडिया*, 25 फरवरी 1990)।

हकीकत यह है कि सभी ज्ञान मेहनत की पाठशाला सिखाया जाता है। हर तरक्की मेहनत की कीमत चुकाकर हासिल होती है। और मेहनत वह चीज़ है जो हर इंसान के पास होती है। यहां तक कि उस इंसान के पास भी जिसे बीमारी ने अपंग बना दिया हो, जो कॉलेज या यूनिवर्सिटी की डिग्री न ले सका हो— मेहनत एक ऐसी पूंजी है जो कभी किसी के लिए खत्म नहीं होती।

मक़सदियत (उद्देश्यपूर्णता)

दिल्ली में एक युवक था। वह एक गरीब घर में पैदा हुआ था। उसकी नियमित पढ़ाई भी नहीं हो पाई, लेकिन वह तंदरुस्त और प्रतिभाशाली था। जब वह बड़ा हुआ तो उसे एहसास हुआ कि उसके लिए माहौल में कोई सम्मानजनक काम मौजूद नहीं है।

आखिरकार वह गुंडागर्दी की राह पर चल पड़ा। झगड़ा, फसाद और लूट-मार उसका पेशा बन गया। लोग उसे दादा कहने लगे। कुछ सालों बाद एक शख्स को उससे सहानुभूति हुई। उसने अपनी तरफ़ से कुछ पैसे उधार देकर उसके लिए एक दुकान शुरू करवा दी। जब वह दुकान पर बैठा और उसे मुनाफ़ा मिलने लगा तो उसका सारा ध्यान दुकान की तरफ़ लग गया। उसने गुंडागर्दी छोड़ दी और पूरी तरह दुकान के काम में लग गया। वर्तमान समय में मुसलमानों का मामला भी कुछ ऐसा ही हो गया है। उन्होंने उद्देश्य खो दिया है। आधुनिक दुनिया में वे एक बेमकसद के समूह बनकर रह गए हैं। यही वजह है कि आज उनके पास नकारात्मक बातों के अलावा कुछ भी नहीं बचा। वे शिकायत और विरोध की मिसाल बन गए हैं। छोटी-छोटी बातों पर लड़ने को तैयार हो जाते हैं। उनकी हर बैठक शिकायतों की सभा बन जाती है और उनका हर सम्मेलन विरोध-प्रदर्शन का रूप ले लेता है। इस स्थिति का एकमात्र हल यह है कि मुसलमानों को एक उद्देश्यपूर्ण समूह बनाया जाए और वह उद्देश्य सिर्फ एक हो सकता है - मानव समाज की हमदर्दी और उन तक सही इस्लामी शिक्षा पहुँचाना। अगर उनके अंदर यह उद्देश्य पैदा कर दिया जाए तो उनकी सारी कमजोरियाँ अपने आप दूर हो जाएँगी।

वे अपने काम का एक ऊँचा और सकारात्मक उदाहरण पा लेंगे। उनकी उद्देश्यहीनता अपने आप उद्देश्य में बदल जाएगी। इसके बाद उनमें सदाचार भी आएगा और सब्र व सहनशीलता भी। वे दूसरों से नफरत करने के बजाय उनसे मोहब्बत करने लगेंगे। फिर उन्हें वह दृष्टि मिल जाएगी जो अँधेरे में भी उजाले का पहलू देख लेती है, जो खोने में पाने का रहस्य समझ लेती है।

सही उद्देश्य हर तरह के सुधार की जड़ है। बिना सही उद्देश्य का इंसान शैतान की कार्यशाला बन जाता है। इंसान को उद्देश्यपूर्ण बना दीजिए, फिर अपने आप उसकी हर चीज़ ठीक हो जाएगी।

बचकर चलिए

एक रास्ता है जिसमें कांटेदार झाड़ियाँ उगी हुई हैं। यदि कोई व्यक्ति बेपरवाही से उस रास्ते पर चल पड़ता है, तो कांटे उसके शरीर में चुभते हैं, उसके कपड़े फट जाते हैं, और वह अपनी मंज़िल तक देर से पहुँचता है। इस सबके बीच उसका मानसिक संतुलन भी डगमगा जाता है और उसकी आंतरिक शांति समाप्त हो जाती है।

अब वह व्यक्ति क्या करेगा? क्या वह कांटों के खिलाफ कोई कॉन्फ्रेंस बुलाएगा? क्या वह कांटों के बारे में जोशीले बयान जारी करेगा? क्या वह संयुक्त राष्ट्र से यह मांग करेगा कि दुनिया के सारे पेड़ों से कांटों को खत्म कर दिया जाए ताकि भविष्य में कोई मुसाफिर इस समस्या का शिकार न हो?

कोई गंभीर और समझदार व्यक्ति ऐसा कभी नहीं करेगा। इसके विपरीत वह अपनी नासमझी का एहसास करेगा। वह खुद से कहेगा कि जब अल्लाह ने तुम्हें दो आंखें दी थीं, तो तुमने क्यों न यह किया कि कांटों से बचकर चलते? तुम अपना दामन समेट कर कांटों वाले रास्ते से निकल जाते। इस तरह तुम्हारा शरीर भी कांटों से सुरक्षित रहता और तुम्हें अपनी मंज़िल तक पहुंचने में भी देर नहीं होती।

अल्लाह ने पेड़ों की दुनिया में यह उदाहरण रखा ताकि इंसान इसे अपनी सामाजिक दुनिया में यात्रा करते समय सीख के तौर पर अपनाएं। मगर ऐसा लगता है कि किसी ने भी इस ईश्वरीय निशानी को नहीं पढ़ा। अल्लाह के इस

संदेश को सुनकर किसी ने इससे सीख नहीं ली। आज की दुनिया में आपको ऐसे बहुत से लोग मिलेंगे जो सामाजिक कांटों के बीच लापरवाही से चलते हैं। और जब कांटे उनके शरीर से चुभकर उन्हें तकलीफ पहुंचाते हैं, तो वे एक पल सोचे बिना खुद कांटों को बुरा कहने लगते हैं। वे अपनी नासमझी दूसरों पर थोपने की बेकार कोशिश करते हैं।

ऐसे सभी लोगों को जानना चाहिए कि जिस तरह पेड़ों की दुनिया से कांटेदार झाड़ियां खत्म नहीं की जा सकतीं, उसी तरह सामाजिक दुनिया से कांटेदार इंसान भी कभी खत्म नहीं होंगे, यहाँ तक कि क़यामत न आ जाए। इस दुनिया में सुरक्षित और कामयाब जिंदगी का राज़ कांटेदार इंसानों से बचकर चलने में है। इसके अलावा हर दूसरा तरीक़ा केवल तबाही को बढ़ाने वाला है और कुछ नहीं।

हिकमत वाला तरीक़ा

ज़िंदगी में बार-बार ऐसा होता है कि इंसान को यह फ़ैसला लेना पड़ता है कि वह क्या करे और क्या न करे। ऐसे मौकों पर फ़ैसला लेने के दो आधार होते हैं:

1. What is right (क्या सही है)
2. What is possible (क्या संभव है)

हिकमत भरा तरीक़ा यह है कि व्यक्तिगत मामलों में इंसान यह देखे कि क्या सही है, और जो तरीक़ा सही हो, उसे अपनाए। लेकिन सामूहिक मामलों में यह देखना सही होता है कि क्या संभव है, और जो चीज़ संभव हो, उसे अपना लिया जाए।

इस फ़र्क की वजह यह है कि व्यक्तिगत मामलों में पूरा मसला सिर्फ अपनी ज़ात का होता है। आपको अपनी ज़िंदगी पर पूरा अधिकार है। आप अपनी ज़िंदगी को जिस दिशा में चाहें, मोड़ सकते हैं और अपने साथ जैसा चाहें व्यवहार कर

सकते हैं। इसलिए व्यक्तिगत मामलों में आपको आदर्शवादी होना चाहिए और जितना हो सके, वही रवैया अपनाना चाहिए जो धर्म और नैतिकता की दृष्टि से उचित हो।

लेकिन सामूहिक मामलों में आपकी ज़िंदगी के साथ एक दूसरा पक्ष भी जुड़ जाता है। उस बाहरी पक्ष पर आपका कोई अधिकार नहीं होता। आप उससे अनुरोध कर सकते हैं, लेकिन उसे मजबूर नहीं कर सकते। ऐसे हालात में समझदारी की बात यह है कि सामूहिक मामलों में "संभव" (possible) को देखा जाए। दो विकल्पों में से जो विकल्प व्यवहारिक रूप से संभव हो, उसे स्वीकार कर लिया जाए।

व्यक्तिगत मामलों में "सही" (right) पर चलने से ज़िंदगी का सफर रुकता नहीं, बल्कि जारी रहता है। लेकिन सामूहिक मामलों में ऐसा करने पर दूसरे पक्ष का विरोध आपके सफर को तुरंत रोक देता है। तब सफर को टाल कर सारी ऊर्जा विवाद में खर्च होने लगती है।

इसलिए बेहतर और कामयाब तरीक़ा ये है कि दूसरे पक्ष की बात का ध्यान रखते हुए जो भी रास्ता निकल रहा हो, उसे अपना लिया जाए। वर्तमान को भविष्य पर छोड़ते हुए अपना सफ़र जारी रखा जाए। दुनिया में ज़िंदगी गुज़ारने का यही समझदारी भरा तरीक़ा है।

चेतना का निर्माण

दूसरे विश्व युद्ध तक अमेरिका पूरी दुनिया में मोटर कार का सबसे बड़ा व्यापारी था। हर व्यक्ति के दिमाग़ में "रोल्स रॉयस" कार का दबदबा छाया हुआ था। दूसरे विश्व युद्ध के बाद जर्मनी की "वोक्सवैगन" का दौर आया। 1970 तक 140 देशों में 16 मिलियन से अधिक वोक्सवैगन कारें बिक चुकी थीं। मगर अब जापानी कारों का ज़माना है। आज "टोयोटा" (न कि जनरल मोटर्स) कारों की दुनिया

का बादशाह है। अमेरिका की सड़कों पर जो कारें दौड़ती हैं, उनमें से 35% कारें जापान की बनी हुई होती हैं।

आज दुनिया में इस्तेमाल होने वाले इलेक्ट्रॉनिक सामान का 80% जापान में बना हुआ होता है। जब अमेरिका का अपोलो (II) चांद पर गया, तो उसमें रखने के लिए एक बेहद छोटा और सटीक काम करने वाला कैसेट रिकॉर्डर चाहिए था। इतना छोटा और सही काम करने वाला रिकॉर्डर सिर्फ जापान ही बना सकता था। नतीजतन, अपोलो II के साथ जापानी रिकॉर्डर रखकर उसे चांद पर भेजा गया।

दूसरे विश्व युद्ध तक जापान का यह हाल था कि "मेड इन जापान" (Made in Japan) शब्द जहां भी लिखा होता, लोग समझते कि यह सस्ता और अविश्वसनीय होगा। जापानी सामान की छवि इतनी खराब थी कि पश्चिमी देशों के व्यापारी जापानी सामान अपनी दुकानों पर रखना अपमान समझते थे। फिर सिर्फ 40 वर्षों में जापान ने इतनी क्रांतिकारी तरक्की कैसे हासिल कर ली?

एक अमेरिकी विद्वान विलियम ओयूची (William O'uchi) के अनुसार, इसका रहस्य उनके कर्मचारियों के अंदर "प्रेरणा" (motivation) पैदा करना है।

जापानियों ने अपनी प्राथमिक शिक्षा का स्तर बहुत ऊंचा किया। उन्होंने प्राथमिक शिक्षकों को ऊंची तनख्वाह और प्रोफेसरों जैसी इज़्ज़त दी, ताकि बेहतरीन शिक्षक उनकी नई पीढ़ी को शिक्षा दे सकें। उन्होंने अपने लोगों में गहराई से यह चेतना पैदा की कि उद्योग में सबसे महत्वपूर्ण चीज़ "गुणवत्ता" (Quality) है।

आधुनिक जापान में हर जगह क्वालिटी कंट्रोल सर्कल स्थापित हैं। 1980 तक एक लाख क्वालिटी कंट्रोल सर्कल पंजीकृत हो चुके थे। इसके अलावा, कहा जाता है कि जापान में दस लाख गैर-पंजीकृत क्वालिटी सर्कल भी मौजूद हैं।

सफलता कैसे

फरवरी 1992 में दिल्ली में किताबों की प्रदर्शनी (book fair) आयोजित हुई। 7 फरवरी को मैं भी इसे देखने गया। अलग-अलग स्टॉल देखते हुए एक जगह पहुंचा, तो वहां के बोर्ड ने मेरा ध्यान खींच लिया। बोर्ड पर लिखा था: "थिंक इनकॉर्पोरेटेड" (Think Incorporated)।

यह बुक फेयर में एक अनोखा स्टॉल था। इसका मकसद था लोगों को सोचने की कला सिखाना। क्योंकि गलत सोच इंसान को नाकामी की ओर ले जाती है और सही सोच सफलता की ओर। यहां मिस्टर प्रमोद कुमार बत्रा की एक खूबसूरत छपी हुई अंग्रेज़ी किताब थी। इसका नाम "मैनेजमेंट थॉट्स" (Management Thoughts) था। इसमें कुल 315 पन्ने और 1360 उपयोगी कथन शामिल थे। उदाहरण के तौर पर एक कथन यह था:

"Our attitude determines our altitude."

(हमारा मानसिक रवैया हमारी ऊंचाई को निर्धारण करता है।)

इसी तरह, इस स्टॉल पर कई प्रेरणादायक पोस्टर भी थे। एक पोस्टर में ऊपर माचिस की एक तीली दिखाई गई थी। उसके नीचे लिखा था कि माचिस की तीली का एक सिर होता है, लेकिन उसमें दिमाग नहीं होता। इसलिए जब भी रगड़ होती है, वह तुरंत जल उठती है। हमें इस छोटी सी माचिस की तीली से सीखना चाहिए। हम और आप सर रखते हैं और इसी के साथ दिमाग भी, इसलिए हमें चाहिए कि हम भड़कें नहीं:

> "A match-stick has a head, but it does not have a brain. Therefore, whenever there is a friction, it flares up immediately. Let us learn from this humble match-stick. You and we have heads as well as brains. Therefore, let us not react on impulse."

एक इंसान वह है जो भड़काने वाली बात पर तुरंत भड़क उठता है। वह फौरन भावनाओं में आकर प्रतिक्रिया देता है। ऐसा इंसान हमेशा नाकाम रहेगा। दूसरा इंसान वह है जो भड़काने वाली बात के बावजूद संयम में रहता है। वह ठंडे दिमाग से सोचता है, फिर कार्रवाई करता है। ऐसा इंसान हमेशा कामयाब रहेगा। दूसरा इंसान वास्तव में "इंसान" है, जबकि पहला सिर्फ माचिस की एक तीली है।

एक नसीहत

बेंजामिन फ्रैंकलिन एक अमेरिकी विचारक था। वह 1706 में पैदा हुआ और 1790 में उसका निधन हुआ। उसका एक प्रसिद्ध कथन है— शादी से पहले अपनी आँखें पूरी तरह खुली रखो, लेकिन शादी के बाद आधी बंद कर लो।

> Keep your eyes open before marriage, half shut afterwards.

इसका मतलब यह है कि विवाह से पहले अपने जीवन साथी के बारे में पूरी जानकारी हासिल करो, मगर विवाह के बाद बातों को कम से कम जानने की कोशिश करो, अधिक छानबीन न करो। इसी बात को किसी ने सरल शब्दों में यूँ कहा कि "शादी से पहले परखो, और शादी के बाद निभाओ।"

कोई भी व्यक्ति पूर्ण या आदर्श नहीं। इसलिए रिश्ता तय करने से पहले जाँच-पड़ताल ज़रूर करनी चाहिए, लेकिन रिश्ता होने के बाद अपने जीवन साथी की अच्छाइयों को देखना चाहिए और उसकी कमियों को नज़रअंदाज़ करना चाहिए।

इस दुनिया में पूर्णता या आदर्श प्राप्त करना असंभव है। साथ ही यह भी ज़रूरी नहीं कि जो चीज़ एक व्यक्ति को आदर्श लगे, वही दूसरे को भी वैसी ही लगे।

इस आधार पर चाहे कोई व्यक्ति कितना भी सही हो, वह दूसरे को पूरी तरह संतुष्ट नहीं कर सकता। दोनों पक्षों को एक-दूसरे में कुछ न कुछ कमियाँ ज़रूर दिखेंगी।

अब एक रास्ता यह है कि दूसरे की कमी पर झगड़ो और रिश्ता तोड़ लो, लेकिन मुश्किल यह है कि नए रिश्ते में भी जल्दी ही कोई और कमी सामने आ जाएगी। अगर दूसरा रिश्ता भी तोड़ दिया जाए और तीसरा या चौथा बनाया जाए, तो उनमें भी वही बात दोहराई जाएगी। इसलिए समझदारी का तरीक़ा यही है कि अनुकूलता और सहनशीलता अपनाई जाए। हर पुरुष या स्त्री में अच्छाई भी होती है और कमी भी; ज़रूरत इस बात की है कि अच्छाइयों पर ध्यान दिया जाए और कमियों को बर्दाश्त किया जाए। व्यावहारिक रूप से यही एक संभव तरीक़ा है—इसके सिवा और कोई तरीक़ा इस दुनिया में असरदार नहीं।

क़ीमत का मसला

मौलाना फ़रीद अल-वहीदी जद्दा में रहते हैं। उन्होंने 1 नवंबर 1991 की एक मुलाक़ात में एक बहुत अर्थपूर्ण वाक्य कहा: जो व्यक्ति माउंट एवरेस्ट पर विजय प्राप्त करना चाहता है वह कभी अपने जूतों की क़ीमत नहीं देखता।

> One who wants to conquer the Mount Everest never counts the cost of his shoes.

अगर आपके सामने छोटा मक़सद हो तो आप उसे मामूली कोशिश से हासिल कर सकते हैं। लेकिन अगर आपने अपने लिए कोई बड़ा लक्ष्य चुना है, तो यह भी समझना होगा कि बड़ा लक्ष्य बड़ी क़ीमत भी माँगता है। जो व्यक्ति बड़ा मक़सद पाना चाहता है, उसे बड़ी क़ीमत चुकाने के लिए भी तैयार रहना चाहिए।

बड़ी कामयाबी किसी की जागीर नहीं। हर इंसान बड़ी कामयाबी तक पहुँच

सकता है। इसके बावजूद हम देखते हैं कि बहुत कम लोग बड़ी कामयाबी हासिल करते हैं, और इसकी वजह यही है कि वे उस कामयाबी की क़ीमत नहीं देते। बाज़ार में कम कीमत पर कम चीज़ मिलती है और ज़्यादा कीमत पर ज़्यादा चीज़—यही ज़िंदगी का उसूल है। ज़िंदगी का क़ानून एक शब्द में ये है: जितना दोगे, उतना ही पाओगे—न उससे कम, न उससे ज़्यादा।

क़ीमत का मतलब लड़ना या खून बहाना नहीं है, और इसका संबंध सिर्फ़ धन से भी नहीं है। इसका सबसे गहरा रिश्ता मनोविज्ञान से है। इस दुनिया में सबसे बड़ी क़ीमत वही है जो मानसिक स्तर पर अदा की जाती है। मानसिक क़ीमत का अर्थ है नागवार बातों को बर्दाश्त करना, ग़ुस्से के बावजूद शांत रहना, दूसरों के अनुचित व्यवहार पर भी बदले में बुरा व्यवहार न करना, निराशाजनक परिस्थितियों में भी हौसला न खोना, नुक़सान के बाद भी उम्मीद बनाए रखना, अंधेरे हालात में भी रोशनी की किरण देख लेना।

सबसे बड़ी कुर्बानी यह है कि इंसान के सीने में ग़ुस्से और बदले की आग भड़क उठे, मगर वह उसे अपने भीतर ही बुझा दे। कोई उसे तकलीफ़ दे, फिर भी वह उसके बारे में बदगुमान न हो। अगर इंसान का सामना नकारात्मक परिस्थितियों से हो, तब भी वह सकारात्मक सोच पर क़ायम रहे—हालात से ऊपर उठकर जिए, हालात के भीतर नहीं।

असफलता और सफलता

अमेरिका की तरक्की का राज़ एक साधारण से शब्द में छुपा है, और वह शब्द है “रिसर्च” (Research)। वहां हर चीज़ पर रिसर्च की जाती है। उदाहरण के तौर पर, कई लोगों ने इस पर रिसर्च की है कि सफलता और नाकामी क्या है, और नाकामी को दोबारा सफलता में कैसे बदला जा सकता है। इस विषय में कुछ

किताबों के नाम इस प्रकार हैं:

- Carole Hyatt, *When Smart People Fail*
- Rabbi Harold Kushner, *When Bad Things Happen to Good People*
- Charles Garfield, Peak Performers: *The New Heroes of American Business*
- Harvey Mackay, *Swim With the Sharks Without Being Eaten Alive*

इन किताबों में विषय से संबंधित क़ीमती जानकारी इकट्ठा की गई है। यहां हम केवल दो महत्वपूर्ण बातें पेश कर रहे हैं:

> पहली बात यह है कि इस दुनिया में यह नामुमकिन है कि कोई व्यक्ति हमेशा के लिए नाकामी से सुरक्षित (Failure-proof) जीवन जी सके। हर व्यक्ति को कभी न कभी नाकामी का सामना करना पड़ता है। व्यक्ति को चाहिए कि वह हर नाकामी को अपने लिए एक सबक बनाए। अधिकतर सफल लोगों का राज़ यह होता है कि नाकाम होने के बावजूद उन्होंने अपनी नाकामी को अंतिम शब्द नहीं माना:
>
> "They learned not to take failure as the last word."

दूसरी बात यह है कि जिस तरह नाकामी एक समस्या है, उसी तरह सफलता भी एक समस्या है। लगातार सफलता व्यक्ति के अंदर घमंड (arrogance) पैदा कर देती है, जो नाकामी का एक बड़ा कारण बन जाता है। एक सफल व्यापारी ग्लेन अर्ली (Glen Early) ने कहा:

> "I can't afford to get arrogant about success. So, I am always trying to improve my business."

(मैं सफलता पर अहंकारी बनने का जोखिम नहीं उठा सकता। इसलिए मैं हमेशा अपने व्यापार को बेहतर बनाने की कोशिश करता हूं।)

सफलता और नाकामी कोई रहस्यमय चीजें नहीं हैं। ये दोनों ज्ञात कारणों के परिणाम हैं। इन कारणों को समझ लीजिए, और फिर आपको किसी से कोई शिकायत नहीं रहेगी।

कारोबारी स्थायित्व

खुशहाल तबक़ा नाश्ते में या चाय के साथ अनाज से बनी हल्की चीज़ें लेना पसंद करता है। इसी का एक रूप वह हल्का खाद्य है, जिसको कॉर्नफ्लैक्स कहा जाता है। इसकी विभिन्न क़िस्में बाज़ार में मौजूद हैं।

बहुत-सी फ़र्मों ने विभिन्न नामों से कॉर्नफ्लैक्स बनाए। उनके स्वाद में तरह-तरह की विविधता पैदा की। पर भारतीय बाज़ार में वे ज़्यादा कामयाब न हो सके, हालांकि उन्होंने विज्ञापन पर काफ़ी पैसा ख़र्च किया।

इस वक़्त भारत के बाज़ार में सिर्फ़ दो फ़र्मों के बनाए हुए कॉर्नफ्लैक्स ज़्यादा चल रहे हैं। एक हिंदुस्तान वेजिटेबल ऑयल्स कॉर्पोरेशन लिमिटेड (HVOC) का और दूसरा मोहन मीकिन्स लिमिटेड का। ये दोनों फ़र्में हर साल एक हज़ार टन कॉर्नफ्लैक्स बेचती हैं, जिनकी क़ीमत तीन करोड़ पचास लाख होती है, हालांकि ये दोनों फ़र्में विज्ञापन पर सिरे से कोई पैसा ख़र्च नहीं करतीं। उनका तैयार किया हुआ कॉर्नफ्लैक्स बिना किसी विज्ञापन के बिकता है।

इस फ़र्क़ की वजह क्या है? इसकी बुनियादी वजह यह है कि दूसरे फ़र्मों का कोई इतिहास नहीं। उन्होंने किसी नाम से कॉर्नफ्लैक्स की एक किस्म बनाई। वह बाज़ार में नहीं चली तो उन्होंने दूसरी क़िस्म बना डाली या सिरे से उसको बनाने

का काम छोड़ कर कोई दूसरा काम शुरू कर दिया। इसके विपरीत उपरोक्त दोनों कामयाब फर्मों के कारोबार के पीछे बीस साल का इतिहास है। वे बीस साल से लगातार एक ही क़िस्म का कॉर्नफ्लैक्स बना रही हैं। बीस वर्षीय इतिहास ने उन्हें लोगों की नज़र में जाना-पहचाना और मान्यताप्राप्त बना दिया है। किसी आदमी को कॉर्नफ्लैक्स लेना होता है तो उनके ज़ेहन में पहले से उसका नाम मौजूद होता है और वह बाज़ार जाकर अपने इस जाने-पहचाने कॉर्नफ्लैक्स को खरीद लेता है।

यही कारोबार में तरक्की का राज़ है। कारोबार में ठहराव और स्थायित्व ज़रूरी शर्त है। आप कारोबार करके उसको छोड़ते या बदलते रहते हैं तो आप कभी कारोबार में कामयाब नहीं होंगे। और अगर आप कारोबार करके उस पर जमे रहें, किसी भी कठिनाई की वजह से उसको न छोड़ें तो 'बीस साल' गुज़रने के बाद आप निश्चित रूप से कामयाबी की अगली मंज़िल पर पहुंच चुके होंगे।

कर्म, न कि प्रतिक्रिया

अमेरिका की कंपनी आईबीएम (IBM) कंप्यूटर के क्षेत्र में इतनी आगे थी कि उसे कंप्यूटर की दिग्गज कंपनी (computer giant) कहा जाता था। कुछ साल पहले इसके अधिकारियों ने जापान की कंप्यूटर बनाने वाली कंपनियों का मज़ाक उड़ाते हुए कहा था—"जब आईबीएम छींकती है, तो जापान के कंप्यूटर निर्माता उड़ जाते हैं।"

> When IBM sneezes, Japanese computer makers are blown away.

अगर भारत में मुसलमानों के खिलाफ़ कोई हिंदू ऐसी बात कह देता, तो सभी नासमझ मुस्लिम नेता और तीसरे दर्जे के अखबार तुरंत शोर मचा देते कि मुसलमानों के जज़्बात को ठेस पहुँची है, मगर प्रशासन अपने कर्तव्यों में नाकाम

रहा है। मुस्लिम जनता इस "उकसावे" पर भड़क उठती, झगड़े शुरू हो जाते, और उसके बाद सांप्रदायिक दंगे होते, जिनका नतीजा यह होता कि मुसलमान समाज और पीछे चला जाता।

लेकिन जापानी उद्योगपतियों ने इस "उकसावे" पर ग़ुस्से का कोई इज़हार नहीं किया। उन्होंने सिर्फ़ एक काम किया—अपने कंप्यूटरों की गुणवत्ता को बेहतर बनाने में लग गए। और नतीजा यह हुआ कि टाइम मैगज़ीन (17 सितंबर 1990) के मुताबिक जापान कंप्यूटर उद्योग में पूरी दुनिया से आगे निकल गया। आज जापान की स्थिति यह है कि फुजित्सु (Fujitsu) कंपनी ने कहा कि उसके नए, बड़े कंप्यूटर प्रति सेकंड 600 मिलियन निर्देशों को पूरा कर सकते हैं, जबकि अमेरिकी आईबीएम के सर्वश्रेष्ठ कंप्यूटर की गति केवल 210 मिलियन निर्देश प्रति सेकंड है।

> Fujitsu said its largest new computer can perform up to 600 million instructions per second, compared with up to 210 MIPS for IBM's best. (p.47)

उकसावे पर भड़क उठना प्रतिक्रिया (reaction) है, और उकसावे को नज़रअंदाज़ कर अपने निर्माण और मज़बूती पर ध्यान देना कर्म (action) है। इस दुनिया का नियम साफ़ है—जो लोग कर्म पर ध्यान देते हैं, वे तरक्क़ी करते हैं; और जो प्रतिक्रिया में उलझे रहते हैं, वे बर्बाद हो कर रह जाते हैं।

गुस्सा न दिलाओ

29 मई 1990 को दिल्ली के अखबारों में एक सीख देने वाली खबर प्रकाशित हुई। सुदर्शन पार्क (मोती नगर) की झुग्गियों में रहने वाला एक व्यक्ति था, जिसका नाम अनंत राम था। उसकी उम्र 35 साल थी। वह शराब का आदी था। जब उसके पास शराब के लिए पैसे नहीं थे, उसने अपनी पत्नी से पैसे मांगे।

पत्नी ने शराब के लिए पैसे देने से इनकार कर दिया। इस पर पति-पत्नी के बीच झगड़ा हुआ। इसके बाद टाइम्स ऑफ इंडिया (29 मई 1990) के मुताबिक़ जो हुआ, वह यह था:

> "The accused Anant Ram, a habitual drunkard, was enraged when his wife refused to give him the money he asked for. Giving way to his tantrums, he dashed his son Arjun against the floor, thus killing him then and there."
>
> आरोपी अनंत राम, जो शराब पीने का आदी था, अपनी पत्नी द्वारा माँगे गए पैसे न देने पर गुस्से में आ गया। गुस्से के आवेश में उसने अपने बेटे अर्जुन को ज़मीन पर पटक दिया, जिससे उसकी वहीं मृत्यु हो गई।

जब इंसान गुस्से में होता है, तो उस समय वह शैतान के क़ब्ज़े में होता है। उस वक्त वह किसी भी अमानवीय हरकत को अंजाम दे सकता है, यहां तक कि अपने ही बच्चे की निर्दयता से हत्या भी कर सकता है।

यह एक ऐसी कमज़ोरी है जो हर इंसान के अंदर मौजूद होती है। समाज में सुरक्षित और कामयाब ज़िंदगी गुज़ारने का तरीक़ा यह है कि इंसान दूसरों को गुस्सा दिलाने से बचे। समझदारी से कोशिश करे कि कोई भी व्यक्ति उस भावनात्मक स्थिति तक न पहुंचे, जब वह शैतान के क़ब्ज़े में चला जाए और पागलपन भरी हरकतें कर बैठे, जैसा कि ऊपर के वाक्य में देखा गया।

गुस्सा और बदले की भावना किसी विशेष क़ौम या समुदाय से जुड़ी नहीं है। यह हर इंसान के स्वभाव का हिस्सा है, चाहे वह किसी भी क़ौम या देश का हो। गुस्से और बदले को "मानवीय समस्या" के तौर पर लेना चाहिए, न कि किसी विशेष क़ौम या समुदाय की समस्या के तौर पर।

अधिकार और लाचारी

प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइंस्टीन (Einstein) ने भौतिक विज्ञान के एक सिद्धांत को इस तरह बयान किया है:

“Energy can neither be created nor destroyed.”

(ऊर्जा न उत्पन्न की जा सकती है और न नष्ट की जा सकती है।)

यह तथ्य ईश्वर की असीम शक्ति का प्रमाण है। इंसान इस दुनिया को सिर्फ इस्तेमाल कर सकता है। वह इसे बदलने या मिटाने में सक्षम नहीं है। इससे यह भी पता चलता है कि इस दुनिया में इंसान की असली हैसियत क्या है। इंसान इस दुनिया का मालिक नहीं है, बल्कि एक अधीन व्यक्ति है। इसी स्थिति को धार्मिक शब्दों में “परीक्षा” कहा जाता है।

इंसान इस दुनिया में इसलिए आता है ताकि वह सीमित समय के भीतर अपनी परीक्षा का उत्तर लिख सके। इसके बाद उसे यहां से चले जाना होगा। इसके अलावा किसी और चीज़ पर उसे कोई पूर्ण अधिकार नहीं।

कुछ लोग दुनिया की परेशानियों से हार मानकर आत्महत्या का रास्ता चुन लेते हैं। उन्हें लगता है कि खुद को मिटाकर वे अपनी समस्याओं का अंत कर देंगे। लेकिन यह सोचना एक भ्रांति है। जैसे भौतिक दुनिया की ऊर्जा को नष्ट नहीं किया जा सकता—क्योंकि वह किसी न किसी रूप में बनी रहती है—उसी तरह उस ऊर्जा को भी समाप्त नहीं किया जा सकता जो एक इंसान के रूप में अस्तित्व में आई है। जीवन कोई मिटने वाली चीज़ नहीं, बल्कि एक निरंतरता है, जो इस दुनिया से आगे भी अपना स्वरूप बनाए रखती है।

यह स्थिति इस बात का संकेत है कि इस दुनिया में इंसान का असली मामला क्या है।

इंसान को यह अधिकार है कि वह सच्चाई का इनकार कर दे। लेकिन सच्चाई

को बदलना उसके लिए संभव नहीं। इंसान को यह अधिकार है कि वह बगावत करे, लेकिन बगावत के नतीजों से खुद को बचाना उसके लिए संभव नहीं। इंसान को यह अधिकार है कि वह नैतिकता के नियमों को न माने, लेकिन नैतिकता की अहमियत को इस दुनिया से खत्म करना उसके बस में नहीं।

इंसान को यह अधिकार है कि वह जो चाहे करे, लेकिन उसे यह अधिकार नहीं है कि अपनी किसी चाहत को उस आदर्श सिद्धांत की हैसियत दे दे, जिसके आधार पर आखिरकार सभी इंसानों का फैसला किया जाएगा।

इंसान इस दुनिया में आज़ाद है, लेकिन उसकी आज़ादी सीमित है, न कि असीमित।

अपनी कमज़ोरी

रॉबर्ट एम्मियन (Robert Emmiyan) रूस के प्रसिद्ध एथलीट हैं। उन्हें लंबी कूद के चैंपियन (Top Long-Jumper) के रूप में जाना जाता है। वे 15 फरवरी 1965 को पैदा हुए और अंतरराष्ट्रीय प्रतियोगिताओं में गोल्ड मेडल जीतकर असाधारण शोहरत हासिल की।

एक भारतीय पत्रकार श्री वी. कृष्णास्वामी ने रॉबर्ट एम्मियन का विस्तृत इंटरव्यू लिया। यह इंटरव्यू टाइम्स ऑफ इंडिया (5 अप्रैल 1988) में प्रकाशित हुआ। श्री कृष्णास्वामी ने रॉबर्ट से पूछा कि अंतरराष्ट्रीय खेलों में सफलता पाने के लिए आप क्या करते हैं। रॉबर्ट एम्मियन ने जवाब दिया:

> "The most important is to get rid of the defects which prevent me from improving my performance. My coach and I know that I have reserves which we must put to use."
>
> (सबसे महत्वपूर्ण है अपनी उन कमज़ोरियों को दूर करना, जो मेरी प्रदर्शन क्षमता को बेहतर बनाने में बाधा डालती हैं। मेरे कोच

और मैं दोनों जानते हैं कि मुझमें छुपी हुई क्षमताएं हैं, जिन्हें हमें उपयोगी बनाना है।)

रॉबर्ट एम्मियन ने खेल में सफलता का जो राज़ बताया, वही ज़िंदगी में सफलता का भी राज़ है। जीवन के संघर्ष में जब कोई व्यक्ति असफल होता है, तो वह अपनी ही कमज़ोरियों के कारण असफल होता है। अपनी आंतरिक कमज़ोरियों को पहचानना और उन्हें दूर करके बेहतर तैयारी के साथ आगे बढ़ना ही सफलता का मूल मंत्र है।

इस दुनिया में जो भी व्यक्ति सफल होता है, वह इस शर्त को पूरा करके ही सफल होता है। और जो असफल होता है, वह इसलिए असफल होता है कि वह इस शर्त को पूरा नहीं कर सका। असफल वह है, जो अपनी पूरी क्षमताओं का इस्तेमाल करने में नाकाम रहे, और सफल वह है, जो अपनी पूरी क्षमताओं का इस्तेमाल करने में सफल हो जाए।

शरीर का सारा खून

प्रोफ़ेसर पाल डिरॅक (Paul Dirac) 1902 में पैदा हुए। अक्तूबर 1984 में उनकी 82 साल की उम्र में फ्लोरिडा में मृत्यु हुई। वह आधुनिक दौर में न्यूटन (Newton) और आइंस्टाइन (Einstein) के बाद सबसे ज़्यादा मुमताज़ और बड़े साइंसदां समझे जाते हैं। उनको नोबेल प्राइज़ और दूसरे बहुत से इनाम व सम्मान हासिल हुए ।

पाल डिरॅक के नाम के साथ क्वांटम मेकानिकल थ्योरी (Quantum Mechanic Theory) जुड़ी हुई है। यह साइंसी नज़रिया (सिध्दांत) एटम के बेहद छोटे ज़र्रात (कणों) के बारे में है। उन्होंने सबसे पहले एंटी मीटर की पेशीनगोई (भविष्यवाणी) की जो बाद में ज़्यादा तहक़ीक़ात से साबित हो गया। गार्जियन (4 नवम्बर 1984) ने पाल डिरॅक पर लेख छापा तो उसकी सुर्ख़ी इस तरह लगाई:

Prophet of the Anti-Universe.

पाल डिरॅक ने एटम में पहला एंटी पार्टिकल खोजा, जिसे पाज़िट्रान (Positron) कहा जाता है। 'इस खोज ने न्यूक्लेयर फ़िज़िक्स में एक इंक़िलाब बरपा कर दिया। लोग जब पाल डिरॅक से पूछते कि आपने सब-एटोमिक की नौइयत (प्रकृति) और विशेषताओं के बारे में अपना चौंका देने वाला नज़रिया कैसे खोज निकाला तो वह बताते कि वह अपने स्टडी रूम में इस तरह फ़र्श पर लेट जाते थे कि उनका पाँव ऊपर रहता था ताकि ख़ून उनके दिमाग़ की तरफ़ दौड़े:

> When people asked him how he got his startling ideas about the nature of sub-atomic matter, he would patiently explain that he did so lying on the floor of his study with his feet up so that the blood rushed to his head.

देखने में यह एक लतीफ़ा लगता है। लेकिन हक़ीक़त यह है कि कोई बड़ा फ़िक्री और बौद्धिक काम वही शख़्स कर पाता है जो अपने सारे जिस्म का ख़ून अपने दिमाग़ में समेट दे।

ज़्यादातर लोगों का हाल यह होता है कि वे अपनी क्षमता को विभाजित किए हुए होते हैं। वे अपने आपको एक केन्द्र पर एकाग्र नहीं कर पाते इसीलिए वे एक अधूरी ज़िन्दगी गुज़ार कर इस दुनिया से चले जाते हैं। हर काम आदमी से उसकी पूरी क्षमता मांगता है। वही शख़्स बड़ी कामयाबी हासिल करता है जो अपनी पूरी क्षमता को एक काम में लगा दे।

कारण अपने अंदर

मार्टिन लूथर किंग (Martin Luther King, Jr., 1929–1968) का एक प्रसिद्ध कथन है—"कोई व्यक्ति तुम्हारी पीठ पर सवारी नहीं कर सकता, जब तक तुम्हारी पीठ झुकी न हो।"

A man can't ride your back unless it's bent.

यह वाक्य प्रतीकात्मक भाषा में ज़िंदगी की एक गहरी सच्चाई बताता है। अगर आप सीधे खड़े हैं, तो किसी को यह मौक़ा नहीं मिलेगा कि वह आकर आपकी पीठ पर सवार हो जाए। कोई तभी आप पर चढ़ सकता है जब आपकी पीठ झुकी हो—झुकी हुई पीठ पर सवारी संभव है, सीधी पीठ पर नहीं। ज़िंदगी का मामला भी ऐसा ही है। इस दुनिया में मग़लूबियत यानी असफलता, असल में अपनी कमज़ोरी की क़ीमत है। कोई भी व्यक्ति आप पर तभी हावी हो सकता है जब आप कमज़ोर होकर उसे अपने ऊपर हावी होने का अवसर दे। इसलिए समझदारी और वास्तविकता की मांग तो यह हैं कि जब भी कोई आप पर भारी पड़ता दिखाई दे, तो सबसे पहले अपने अंदर झाँकिए और उस कमज़ोरी को पहचानिए जिसने दूसरे को यह मौक़ा दिया कि वह आपको इस्तेमाल करके आप पर काबू पा सके।

रसूल अल्लाह (सल्ल०) की ज़िंदगी में उहुद की जो लड़ाई हुई, उसमें मुसलमान पहले जीत रहे थे, लेकिन बाद में उनकी जीत हार में बदल गई। इसका कारण दुश्मन की ताक़त नहीं, बल्कि मुसलमानों के एक समूह की ग़लती थी। इसलिए जब कुरआन (सूरह आले इमरान, 3:152) में इस घटना पर टिप्पणी आई, तो उसमें दुश्मन की ज़्यादती या अत्याचार का ज़िक्र नहीं किया गया; सारी चेतावनी मुसलमानों को दी गई, ताकि उनके अंदर अपनी कोताही का गहरा एहसास पैदा हो। इस तरह वे अपनी गलती को सुधार कर भविष्य में ऐसी कोई स्थिति ही पैदा न होने दें, जिसमें कोई उन पर क़ामयाबी पा सके। इंसान जब भी किसी दूसरे के मुक़ाबले में हारता है, तो वह अपनी अंदरूनी कमी के कारण हारता है। अपनी उस कमी को पहचानिए और उसे दूर कीजिए—फिर आपको न किसी से शिकायत होगी और न किसी से विरोध।

अपनी ग़लती

एक व्यक्ति का हाल मुझे मालूम है। वह बहुत तंदुरुस्त थे, अल्लाह ने उन्हें अच्छा दिमाग़ दिया था, लेकिन इसके बावजूद वे ज़िंदगी में कभी सफल नहीं हो सके। उन्होंने जो भी काम किया, वह नाकामी पर खत्म हुआ। यहाँ तक कि उनका मानसिक संतुलन भी बिगड़ गया। इसी हालत में एक दिन वे सड़क पर एक जीप से टकरा गए और उनकी मौत हो गई।

उनकी नाकामी की सीधी वजह यह थी कि उन्होंने अपनी क्षमताओं को सफलता के रास्ते में इस्तेमाल नहीं किया। अपनी नाकामी के लिए वे हमेशा दूसरों को ज़िम्मेदार ठहराते रहे, मगर सच्चाई यह है कि उनकी नाकामी का असली कारण वह ख़ुद थे—उनके सिवा किसी और को दोष नहीं दिया जा सकता।

उन्होंने पढ़ाई शुरू की, लेकिन जब वे मैट्रिक तक पहुँचे तो राजनीति में दिलचस्पी लेने लगे। नतीजा यह हुआ कि वे दसवीं की परीक्षा में फेल हो गए और उनकी शिक्षा वहीं रुक गई। फिर उन्होंने दुकान खोली, मगर उसका कोई तय समय नहीं था। जब मन होता, दुकान खोलते, और जब चाहते, बंद कर देते। आखिर में दुकान बंद हो गई। बाद में उन्होंने नौकरी की, लेकिन वह नौकरी उन्हें उनके अपने स्तर के मुताबिक़ नहीं थी लगी। इस वजह से वे हमेशा झुंझलाहट में रहते और अक्सर अपने मालिक से झगड़ पड़ते। आख़िर में मालिक ने तंग आकर उन्हें नौकरी से निकाल दिया।

इस तरह उन्होंने अलग-अलग काम किए, लेकिन हर काम अधूरा रहा और नाकामी के साथ खत्म हुआ। वे हर समय दूसरों की शिकायत करते रहते—"फलाँ आदमी पक्षपाती है", "फलाँ ने दुश्मनी की वजह से मेरे साथ ऐसा किया", "फलाँ मुझे तरक़्क़ी करते नहीं देख सकता।" वे अपनी हर असफलता का दोष दूसरों पर डालते रहे। वे पूरी ज़िंदगी दूसरों को ग़लत साबित करते रहे, लेकिन आखिर में खुद ही ग़लत साबित हो गए। दूसरों को अपनी बरबादी का ज़िम्मेदार ठहराना देखने में आसान लगता है, मगर इसकी क़ीमत बहुत भारी होती है—और वह यह कि इंसान की बरबादी हमेशा बाक़ी रहती है, वह कभी ख़त्म नहीं होती।

बचत से कमाई

कुछ पदार्थ ऐसे होते हैं जो बिजली को अपने अंदर से गुज़रने देते हैं। इन्हें “कंडक्टर” (Conductor) कहा जाता है। तांबा, लोहे और एल्युमिनियम जैसे पदार्थ इसी श्रेणी में आते हैं। इसलिए बिजली को पावर हाउस से अन्य स्थानों तक ले जाने के लिए इन्हीं पदार्थों के तार बनाए जाते हैं। इन तारों के माध्यम से बिजली एक जगह से दूसरी जगह तक पहुंचाई जाती है।

इस प्रक्रिया के दौरान ये पदार्थ गर्म हो जाते हैं और बिजली के प्रवाह में रुकावट पैदा करते हैं। इसके परिणामस्वरूप लगभग 50% बिजली बर्बाद हो जाती है। यानी पावर हाउस में जितनी बिजली उत्पन्न होती है, उसका केवल आधा हिस्सा ही उपयोग में आता है, बाकी का आधा हिस्सा बर्बाद हो जाता है।

डच वैज्ञानिक हाइक ओनेस (Heike Kamerlingh Onnes, 1853-1926) ने 1911 में एक प्रयोग के दौरान पाया कि कुछ पदार्थ ऐसे हैं, जो एक विशेष तापमान पर पहुंचने के बाद “मौलिक शून्य” (Absolute Zero) की स्थिति में आ जाते हैं। इस स्थिति में वे अपनी प्रतिरोधकता (resistance) पूरी तरह खत्म कर देते हैं और बिना किसी रुकावट के बिजली का प्रवाह कर सकते हैं। ऐसे पदार्थ को “सुपरकंडक्टर” (superconductor) और इस प्रक्रिया को “सुपरकंडक्टिविटी” (superconductivity) कहा जाता है।

अब, लगभग 80 साल की रिसर्च के बाद, यह तकनीक अपनी अंतिम मंज़िल पर पहुंच गई है। अब यह संभव हो गया है कि सुपरकंडक्टर का उपयोग करके बिजली का प्रवाह किया जाए, जिससे बिजली का 100% उपयोग किया जा सके। इसका मतलब है कि बिना बिजली उत्पादन बढ़ाए, इस्तेमाल की जा सकने वाली बिजली की मात्रा दोगुनी हो जाएगी।

इस नई खोज ने इस पुरानी कहावत को सच साबित कर दिया है:

“Electricity saved is electricity generated.”

(बिजली की बचत, बिजली उत्पादन के बराबर है।)

यह एक उदाहरण है जिससे यह समझा जा सकता है कि बचत भी एक प्रकार की आय है। यदि आप अपनी आय नहीं बढ़ा सकते, तो अपने खर्च में कटौती कीजिए। खर्च कम करके आप अपनी आय बढ़ा सकते हैं। यह आय बढ़ाने का एक ऐसा तरीक़ा है, जो हर व्यक्ति के नियंत्रण में है।

युद्ध के बिना विजय

अमेरिकी साप्ताहिक “टाइम” (4 जुलाई 1988) की कवर स्टोरी जापान से संबंधित है। इसका शीर्षक बड़े अर्थपूर्ण तरीके से यह है:

> “Super Japan: Can an economic giant become a global power?”
>
> (सुपर जापान: क्या एक आर्थिक महाशक्ति वैश्विक शक्ति बन सकती है?)

1945 में अमेरिका ने जापान पर विजय की खुशी मनाई थी। लेकिन आज वही पराजित जापान अमेरिका पर विजय हासिल कर रहा है। शुरुआत में यह विजय केवल आर्थिक स्तर पर थी, लेकिन अब यह दूसरे क्षेत्रों में भी फैल रही है।

आज अमेरिका दुनिया का सबसे बड़ा कर्ज़दार देश है, जिस पर 400 बिलियन डॉलर का विदेशी कर्ज़ है। इसके विपरीत, जापान सबसे बड़ा कर्ज़ देने वाला देश है, जिसने दुनिया को 240 बिलियन डॉलर का कर्ज़ दिया है।

आजकल अमेरिका में बड़ी संख्या में ऐसी किताबें और लेख प्रकाशित हो रहे हैं, जिनमें यह बताया जा रहा है कि अमेरिका तेज़ी से पतन की ओर बढ़ रहा है, जबकि जापान तेज़ी से उन्नति कर रहा है। इनमें से एक किताब है:

> Prof. Paul Kennedy, “The Rise and Fall of the Great Powers.”

टाइम मैगज़ीन के इस अंक को पढ़ने के बाद कई पाठकों ने पत्र लिखे। इनमें से कुछ पत्र 25 जुलाई 1988 के अंक में प्रकाशित हुए। इनमें एक पत्र प्रिंसटन के ब्रायन मिर्स्की (Brian Mirsky) का था। उन्होंने अपने संक्षिप्त पत्र में लिखा:

> "Your article on Japan's economic success makes it obvious that although the U.S won the war, Japan won the peace."
>
> (जापान की आर्थिक सफलता पर आपका लेख स्पष्ट करता है कि भले ही अमेरिका ने युद्ध जीता था, लेकिन जापान ने शांति जीत ली।)

जापान की यह कहानी बताती है कि ईश्वर की दुनिया में संभावनाओं का दायरा कितना व्यापक है। यहाँ एक पराजित देश अपने विजेता पर विजय पा सकता है—बिना युद्ध लड़े, बिना किसी संघर्ष या टकराव के।

हिकमत की बात

प्रसिद्ध उद्योगपति जी. डी. बिड़ला आज़ादी की लड़ाई में सक्रिय रूप से शामिल थे। उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को कुल मिलाकर एक करोड़ रुपये से अधिक दान किए। वे महात्मा गांधी के क़रीबी सहयोगियों में से थे। 1947 से पहले बिड़ला हाउस (दिल्ली) कांग्रेस नेताओं का स्थायी केंद्र था।

15 अगस्त 1947 को साढ़े दस बजे वायसराय की आखिरी आधिकारिक घोषणा रेडियो पर प्रसारित होने वाली थी, जिसमें भारत की आज़ादी का एलान होना था। सभी बड़े कांग्रेस नेता बिड़ला हाउस में बैठे घड़ी की सुइयों को देख रहे थे कि कब साढ़े दस बजे और वे वायसराय का भाषण सुनें। जी.डी. बिड़ला भी वहां मौजूद थे।

जी. डी. बिड़ला की आदत थी कि वे रात के ठीक आठ बजे सोने के लिए अपने कमरे में चले जाते थे। जैसे ही उनकी घड़ी में आठ बजे, वे सभा से उठ गए और कहा:

> "अब तो मेरा सोने का समय हो गया। वायसराय का भाषण मैं कल सुबह अखबार में पढ़ लूंगा।"

यही सफल जीवन जीने का सही तरीक़ा है। इंसान को चाहिए कि वह "समस्या" और "उद्देश्य" में फर्क समझे। समस्या पर ध्यान तभी देना चाहिए, जब तक वह आपके उद्देश्य के आड़े न आए। लेकिन जब समस्या और उद्देश्य में टकराव हो जाए, तो समस्या को हालात के हवाले करके अपने उद्देश्य की ओर बढ़ जाना चाहिए।

अधिकतर लोग मसलों में उलझे रहते हैं। फलस्वरूप, वे अपना मानसिक संतुलन खो देते हैं और उच्च लक्ष्यों के लिए समय नहीं निकाल पाते। धीरे-धीरे वे मायूस होकर एक दिन जीवन से विदा ले लेते हैं। लेकिन यह समझदारी नहीं है। समस्याओं को हल करने में अपनी शक्ति खर्च कीजिए, लेकिन इसकी एक सीमा भी तय कीजिए। जब यह हद आ जाए, तो समस्याओं को छोड़कर अपने उद्देश्य को पकड़ लीजिए।

यह एक सच्चाई है कि समस्याओं का हल अक्सर परिस्थितियों पर निर्भर करता है। चाहे इंसान कितना भी परेशान हो, अंत में वही होता है, जो हालात की मांग होती है। इसलिए सबसे बड़ी समझदारी यही है कि एक हद तक समस्या पर ध्यान देने के बाद उसे हालात के हवाले कर दें।

घड़ी में "आठ" बजने तक समस्या पर ध्यान दें। आठ बजते ही समस्या को छोड़कर सोने चले जाएं और यह मान लें कि जो भी फैसला हालात करेंगे, वही आपको मंज़ूर होगा।

सादा उसूल

मारिया टालचीफ (Maria Tallchief, b. 1925) अमेरिका की एक प्रसिद्ध महिला कलाकार हैं। उन्होंने सफल कलाकार बनने का एक सादा सिद्धांत बताया है। हालांकि यह सिद्धांत केवल कलाकारों के लिए नहीं है, बल्कि हर क्षेत्र में काम करने वाले व्यक्ति के लिए है। वह सिद्धांत है:

“See more, be more.”

(ज़्यादा देखो और ज़्यादा बन जाओ।)

जिज्ञासा (curiosity) हर तरक्की की आत्मा है। व्यक्ति को चाहिए कि वह हमेशा कुछ और जानने की कोशिश करे। वह ज़्यादा देखे, ज़्यादा सुने, और सवाल पूछकर अपनी जानकारी में इज़ाफा करे। जितनी अधिक जानकारी होगी, उतनी ही ज़्यादा तरक्की उसके हिस्से में आएगी। और ज़्यादा जानकारी उसी व्यक्ति को मिलती है, जो हमेशा सीखने और जानने की कोशिश में लगा रहता है।

अधिकतर लोग अपनी अज्ञानता (ignorance) से अनजान रहते हैं। वे न जानते हुए भी यह मानते हैं कि वे सब कुछ जानते हैं। यह मानसिकता किसी भी व्यक्ति के लिए घातक है। ऐसा व्यक्ति वास्तव में अज्ञानी होता है, लेकिन वो खुद को विद्वान समझता है। वह नासमझ होता है, लेकिन खुद को बुद्धिमान मान लेता है। ऐसा व्यक्ति भले ही खुद को क़ीमती समझे, लेकिन बाहरी दुनिया के नज़र में उसकी कोई क़ीमत नहीं होती।

सबसे अच्छा यह है कि व्यक्ति खुद को “विद्यार्थी” माने और हमेशा विद्यार्थी बना रहे। ज्ञान की तलाश में कभी न थके। उसके लिए सबसे खुशी का पल वह हो, जब वह कोई नई चीज़ सीखे या उसकी जानकारी में कोई नई बात जुड़ जाए।

जो व्यक्ति ज़्यादा सीखेगा, वह इस दुनिया में ज़्यादा सफल होगा। बुद्धि बढ़ने से इंसान के काम करने की ताकत बढ़ जाती है। बुद्धि का विकास एक आम व्यक्ति को खास बना देता है।

इस दुनिया में जानकारी की कोई सीमा नहीं है। इसलिए जानकारी बढ़ाने की भी कोई सीमा नहीं हो सकती। व्यक्ति को हमेशा खुद को "अज्ञानी" मानना चाहिए ताकि उसकी सीखने की चाहत कभी खत्म न हो।

खतरा नहीं

एक विचारक का प्रसिद्ध कथन है:

"The only thing we have to fear is fear itself."

(हमारे लिए डरने की एकमात्र चीज़ स्वयं डर ही है।)

ज़िंदगी में ऐसे क्षण आते हैं, जो देखने में ख़तरनाक लगते हैं। इन्हें देखकर इंसान डर जाता है। लेकिन जीवन जीने का सही तरीक़ा यह है कि इंसान खतरे को खतरा न समझे, बल्कि इसे केवल एक "समस्या" के रूप में माने। समस्या मानने से दिमाग़ उसका हल खोजने में लग जाता है। इसके विपरीत, जब समस्या को खतरा समझ लिया जाता है, तो डर की मानसिकता पैदा हो जाती है। इंसान निराश होकर बैठ जाता है और जो कुछ वह कर सकता था, वह भी उसके लिए मुश्किल हो जाता है।

जो व्यक्ति जीवन के संघर्ष के मैदान में उतरता है, उसे सबसे पहले यह जानना चाहिए कि वह अकेला नहीं है। यहाँ उसकी तरह कई और लोग भी हैं, जो अपने हौसले के मुताबिक जीवन के संघर्ष में लगे हुए हैं। उसके साथ प्रकृति का एक व्यापक सिस्टम भी है। इस सिस्टम में सर्दी भी है और गर्मी भी, सूखा भी है और पानी भी, मैदान भी हैं और पहाड़ भी, फूल भी हैं और कांटे भी।

इन दोहरे हालात की वजह से इंसान के सामने कई तरह की रुकावटें आती हैं। बार-बार ऐसा होता है कि उसकी गाड़ी रुकती हुई नज़र आती है। ऐसे हालात हर इंसान के साथ आते हैं, और ये आते ही रहेंगे, हम इन्हें चाहें या न चाहें।

लेकिन हमारे लिए तसल्ली की बात यह है कि दुनिया का सिस्टम ऐसा बनाया गया है कि अगर यहां विरोध करने वाले लोग हैं, तो उनके साथ सहयोग करने वाले लोग भी मौजूद हैं। जहां रुकावटें खड़ी होती हैं, वहीं संभावनाओं के दरवाजे भी हर ओर खुले रहते हैं।

जो इंसान विरोधों या रुकावटों में उलझकर रह जाता है, वह अपने सफर को पूरा नहीं कर पाता। इसके विपरीत, जो व्यक्ति रुकावटों का सामना करते हुए अपनी सोच को समाधान खोजने की तरफ़ लगा देता है, वह ज़रूर आगे बढ़ने का रास्ता पा लेता है। उसे कोई ताकत उसकी मंज़िल तक पहुंचने से रोक नहीं सकती।

जोश बिना होश

मिकी थॉम्पसन (Mickey Thompson, b. 1928) अमेरिका में पैदा हुआ। उसने कार रेसिंग में अंतरराष्ट्रीय शोहरत हासिल की, यहां तक कि उसे "स्पीड किंग" कहा जाने लगा। लेकिन मार्च 1988 में उसकी गोली मारकर हत्या कर दी गई। उस समय उसकी उम्र 59 वर्ष थी।

मिकी थॉम्पसन बेहद साहसी व्यक्ति थे। नवंबर 1987 में उन्होंने अपने दोस्तों को लॉस एंजेलेस में बताया कि कुछ लोग उन्हें फोन पर जान से मारने की धमकी दे रहे हैं। उनके दोस्त एर्नी अल्वाराडो (Ernie Alvarado) ने बताया कि मिकी को पता था कि कौन उन्हें मारना चाहता है। दोस्त ने पूछा:

"क्या तुमने इसकी सूचना पुलिस को दी है?"

मिकी ने जवाब दिया: "इसकी कोई ज़रूरत नहीं।"

लेकिन मिकी गलती पर थे। मार्च 1988 की एक सुबह, जब वे अपनी 41 वर्षीय पत्नी ट्रूडी (Trudy) के साथ कैलिफोर्निया के ब्रैडबरी में अपने घर से ऑफिस

के लिए निकल रहे थे, तभी दो लोगों ने उन पर बंदूक से हमला कर दिया। टूडी निराशा में कहती रहीं:

“Don’t shoot! Don’t shoot!”

(मत मारो! मत मारो!)

लेकिन गोलियों की बौछार ने कुछ ही मिनटों में दोनों की जान ले ली। मिकी ने 1960 में 400 मील प्रति घंटे की रफ्तार से कार चलाकर अमेरिका का पहला तेज़ रफ्तार चालक होने का खिताब जीता था। यह यात्रा उन्होंने एक विशेष कार के जरिए की थी, जिसमें चार इंजन लगे थे।

साप्ताहिक “टाइम” (28 मार्च 1988) ने इस घटना पर टिप्पणी करते हुए लिखा:

> “The disregard for danger that marked Thompson’s driving career may have led to his death in his own front yard.”
>
> (खतरे की परवाह न करना, जिसने मिकी थॉम्पसन को तेज़ रफ्तार का राजा बनाया, वही उनके लिए मौत का कारण बन गया।)

बहादुरी और निडरता अच्छी चीजें हैं। लेकिन इंसान आखिरकार कमज़ोर है; वह असीमित बहादुरी या निडरता का बोझ नहीं उठा सकता। इसलिए बहादुरी और निडरता के साथ यह भी ज़रूरी है कि इंसान सावधान रहे। उसे बुद्धिमानी और विवेक का ख्याल रखना चाहिए।

बिना सोचे-समझे लिया गया जोखिम उतना ही गलत है, जितना कि कायरता से पीछे हटना।

रिवाजी ज़ेहन

एलियस होवे (Elias Howe, 1819–1867) अमेरिका के मशहूर शहर मैसाचुसेट्स का एक साधारण कारीगर था। मात्र 48 वर्ष की आयु में उसका देहांत हो गया, लेकिन उसने दुनिया को एक ऐसी चीज़ दी जिसने कपड़ा उद्योग में क्रांति पैदा कर दी—यह थी सिलाई मशीन, जिसे उसने 1845 में ईजाद किया। होवे ने जो मशीन बनाई थी, उसमें सुई के छेद (जिसमें धागा डाला जाता है) को शुरुआत में सुई की जड़ की तरफ़ रखा था, जैसा कि हाथ से सिलाई करने वाली सामान्य सुईयों में होता है। हज़ारों साल से इंसान सुई की जड़ में ही छेद बनाता आया था। इसलिए जब होवे ने सिलाई मशीन तैयार की, तो उसने भी उसी पुराने रिवाज के अनुसार छेद ऊपर की तरफ़ बनाया। लेकिन इसी वजह से उसकी मशीन ठीक से काम नहीं कर रही थी। शुरू में वह उससे सिर्फ जूते सी सकता था, कपड़ा नहीं।

काफी समय तक वह इस उलझन में रहा, लेकिन समस्या का हल उसकी समझ में नहीं आया। फिर एक दिन उसने एक सपना देखा—और उसी ने उसकी समस्या का समाधान कर दिया। उसने देखा कि किसी जंगली क़बीले के लोग उसे पकड़ लेते हैं और हुक्म देते हैं कि वह 24 घंटे के अंदर सिलाई मशीन तैयार करे, वरना उसे मार डाला जाएगा। उसने कोशिश की, लेकिन समय ख़त्म हो गया। जब वे लोग उसे मारने के लिए दौड़े, तो उनके हाथ में बरछे (भाले) थे—और हर बरछे की नोक पर एक छेद था। यह देखते ही उसकी नींद खुल गई—और यहीं से उसे समाधान मिल गया। होवे ने अपनी सुई में भी बरछे की तरह नोक की तरफ़ छेद बनाया और उसमें धागा डाल दिया। अब मशीन बिल्कुल ठीक से काम करने लगी। पहले जहां ऊपर छेद होने से मशीन काम नहीं कर रही थी, अब नीचे छेद करने से वह बेहतरीन ढंग से चलने लगी।

होवे की असली समस्या यह थी कि वह रवायती (परंपरागत) सोच से ऊपर उठकर नहीं सोच पा रहा था। वह मान रहा था कि जो चीज़ हजारों साल से चली

आ रही है, वही सही है। लेकिन जैसे ही उसके अवचेतन मन (subconscious) ने उसे चीज़ का दूसरा पहलू दिखाया, उसने तुरंत उसे समझ लिया और समस्या हल कर ली। जब इंसान अपने पूरे मन और ध्यान से किसी काम में लग जाता है, तो वह उसके राज़ को उसी तरह पा लेता है जैसे एलियस होवे ने पा लिया।

कामयाबी की शर्त

जापान आज आर्थिक सुपर पावर (Economic Superpower) की हैसियत रखता है, इस बात से किसी को इन्कार नहीं है। पारम्परिक तौर पर फ़ौजी ताक़त किसी क़ौम को सुपर पावर बनाती थी। मगर जापान ने अपनी मिसाल से साबित किया कि आर्थिक तरक़्क़ी के ज़रिए भी एक क़ौम सुपर पावर बन सकती है। फिर यह कि फ़ौजी ताक़त के बल पर सुपर पावर बनने वाली क़ौम एक हद के बाद अपनी ताक़त खो देती है, जबकि आर्थिक सुपर पावर के लिए इस क़िस्म की कोई हद नहीं।

जापान आर्थिक सुपर पावर कैसे बना? वह नारों की सियासत और मांग के हंगामों के ज़रिए सुपर पावर नहीं बन सका। बल्कि ख़ामोश अमल के ज़रिए सुपर पावर बना। इस ख़ामोश अमल का सबसे अहम हिस्सा यह था कि उसने अपने लिए छोटी हैसियत को तस्लीम किया। उसके बाद उसे बड़ी हैसियत मिली। टोकियो स्थित पत्रकार सुभाष चक्रवर्ती का एक जायज़ा टाइम्स ऑफ़ इंडिया (27 अप्रैल 1990) में छपा है। उसमें कहा गया है:

> Japan, having long recognized the U.S. As the most important external actor in Asia, it seeks to share power and influence with Japan without compromising Japan’s own self-interests or ambitions.

जापान लम्बी मुद्दत तक अमेरिका की यह हैसियत मानता रहा है कि वह एशिया में सबसे ज़्यादा अहम बाहरी कर्ता-धर्ता की हैसियत रखता है। इसके बाद अब वह वक़्त आया है कि जापान अपने स्वार्थो या अपनी आंकाक्षाओं के मामले में समझौता किए बैगर अमेरिका के साथ ताक़त और असर में हिस्सेदार बनने की कोशिश करे (पेज 8)

यही मौजूदा दुनिया में तरक़्क़ी का उसूल है। यहाँ बड़ा बनने के लिए पहले छोटा बनना पड़ता है। असर हासिल करने के लिए पहले बेअसर बनने पर राज़ी होना पड़ता है। यहाँ आगे बढ़ना उसके लिए मुक़द्दर है, जो आगे बढ़ने से पहले पीछे हटने के मौक़े को बर्दाश्त न करे।

इस दुनिया में खोना पहले है और पाना उसके बाद।

ज़िंदगी का सफ़र

इंसान दो तरह के होते हैं—एक वो जिनकी परवरिश मुसीबतों की पाठशाला में होती है, और दूसरे वो जिनकी परवरिश सुख–सुविधाओं के माहौल में होती है। देखने में तो आसानियों में पलना अच्छा लगता है, मगर असल में इंसान बनाने की जगह सिर्फ़ मुसीबतों की पाठशाला होती है, न कि आराम की। किसी ने ठीक कहा है—"सहूलियत नहीं बल्कि अनथक परिश्रम, आसानी नहीं बल्कि मुश्किल—यही इंसान को इंसान बनाती है।"

> "It is not ease but effort, not facility but difficulty that makes men."

ज़िंदगी की लहरों में बहुत से लोग मुसीबतों की चपेट में आते हैं, लेकिन देखा गया है कि उनका अंजाम दो तरह का होता है। एक, वो लोग जो मुसीबतों के सामने टिक नहीं पाते—नाउम्मीद और निराश होकर रह जाते हैं। दूसरे, वो जो

मज़बूत इरादों वाले होते हैं, मुसीबतों का सामना करते हैं और आख़िरकार अपने लिए एक नई ज़िंदगी बना लेते हैं।

हालाँकि, दूसरे गिरोह को यह कामयाबी हमेशा एक चीज़ से वंचित होने की क़ीमत पर मिलती है। दुनियावी तजुर्बे उन्हें फ़िक्र के एतबार से भी भौतिकवादी बना देते हैं। वो देखते हैं कि जब उनके पास माद्दी (भौतिक) चीज़ें नहीं थीं तो समाज में उनकी क़ीमत नहीं थी, और जब उन्होंने वो चीज़ें हासिल कर लीं तो वही समाज उन्हें अहमियत देने लगा। इस तजुर्बे का नतीजा यह होता है कि वो पूरी तरह भौतिकतावादी बन जाते हैं—माद्दी (सांसारिक) चीज़ों का खोना उन्हें असली नुक़सान लगता है, और माद्दी (सांसारिक) चीज़ों का मिलना असली सफलता।

लेकिन मुसीबतों में पड़ने का असली फ़ायदा तब मिलता है जब इंसान उनसे सीख ले, न कि उनमें डूब जाए। अगर कोई इंसान मुसीबतों की चोट खाए लेकिन तबाह न हो, अगर वो ज़िंदगी की परेशानियों से गुज़रे लेकिन उनसे ऊपर उठकर सोच सके, तो वही इंसान असल में कामयाब है। मुसीबतें और परेशानियों उसी के लिए तजुर्बा (अनुभव) बनती हैं, जो उन्हें अपने ज़ेहन का मालिक नहीं, बल्कि अपने ज़ेहन का रचनाकार बना सके।

दुश्मन से सीखना

1949 में जापानियों ने अपने यहां एक औद्योगिक सेमिनार आयोजित किया। इस सेमिनार में उन्होंने अमेरिका के डॉ. एडवर्ड डेमिंग (Dr. Edward Deming) को विशेष निमंत्रण देकर आमंत्रित किया गया। डॉ. डेमिंग ने अपने लेक्चर में उच्च औद्योगिक उत्पादन के लिए एक नया सिद्धांत प्रस्तुत किया। यह सिद्धांत था "क्वालिटी कंट्रोल" (Quality Control)। (*हिंदुस्तान टाइम्स*, 28 दिसंबर 1986)

दूसरे विश्व युद्ध में जापान को अमेरिका के हाथों अपमानजनक हार का सामना करना पड़ा था। इस दृष्टि से जापानियों के दिल में अमेरिकियों के खिलाफ नफरत होनी चाहिए थी। लेकिन जापानियों ने खुद को इन नकारात्मक भावनाओं से ऊपर उठकर रखा। इसी वजह से वे यह कर सके कि एक अमेरिकी प्रोफेसर को अपने सेमिनार में बुलाएं और उसके बताए गए सिद्धांत को खुले दिल से स्वीकार करें।

जापानियों ने डॉ. डेमिंग के क्वालिटी कंट्रोल के सिद्धांत को पूरी तरह अपनाया। उन्होंने अपने पूरे औद्योगिक तंत्र को "बिना किसी दोष" (Zero-Defect) की नीति पर चलाना शुरू किया। यानी ऐसा उत्पादन करना, जिसमें किसी भी प्रकार का दोष न हो। जापानियों की गंभीरता और उनका समर्पण (Dedication) इस बात की गारंटी बना कि यह लक्ष्य पूरी तरह हासिल हो।

जल्द ही जापानी कारखानों में बिना किसी दोष वाला सामान बनने लगा। यहां तक कि ब्रिटेन के एक दुकानदार ने कहा:

> "अगर मैं जापान से एक मिलियन सामान मंगाता हूं, तो मुझे यकीन होता है कि उनमें से एक भी सामान में कोई कमी नहीं होगी।"

नतीजा यह हुआ कि पूरी दुनिया में जापान के उत्पादों पर 100% भरोसा किया जाने लगा। जापान की व्यापारिक सफलता बढ़ती चली गई। यहां तक कि जापान ने अमेरिका के बाज़ार पर भी कब्ज़ा कर लिया, जिसके एक विशेषज्ञ से उन्होंने क्वालिटी कंट्रोल का यह सिद्धांत सीखा था।

इस दुनिया में बड़ी सफलता वे लोग हासिल करते हैं, जो हर किसी से कुछ सीखने की कोशिश करते हैं – चाहे वह उनका दोस्त हो या दुश्मन।

बन्द ज़ेहन

यूनानी दार्शनिक अरस्तू (332-384 ईसापूर्व) ने लिखा है कि गोल दायरा स्तरीय दायरा है और वह रेखा गणित की सम्पूर्ण सूरत है। इस कल्पना के तहत अरस्तू (Aristotle) ने कहा कि नेचर का हर काम चूंकि स्तरीय होता है इसलिए फ़ितरत आसमानी पदार्थों को जिन दायरों में घुमा रही है, वे सिर्फ़ गोल दायरे ही हो सकते हैं।

अरस्तू का यह नज़रिया पुराने ज़माने में तमाम लोगों के दिमाग़ों में छाया हुआ था। क़दीम ज़माने में खगोल शास्त्र के जो सिद्धान्त बनाए गए, सब में यह माना गया था कि आकाशीय पिंड सबके सब अंतरक्षि के अन्दर गोल दायरों में घूमते हैं।

केपलर (Johannes Kepler) पहला शख़्स है, जिसने इसके ख़िलाफ़ सोचा। उसने हिसाब लगा कर 1609 में बताया कि मंगल ग्रह सूरज के चारों तरफ़ गोल दायरे में नहीं घूमता। बल्कि वह अंडाकार दायरे (elliptical orbit) में घूमता है। उसने भविष्यवाणी की कि दूसरे तमाम गृह जो सूरज के गिर्द घूमते हैं, वे भी अंडाकार शक्ल में घूमते हैं। केपलर का यह नज़रिया आज एक स्थापित सच्चाई बन गया है।

पुराने खगोलशास्त्री हज़ारों साल तक गोल दायरों की कल्पना में गुम रहे। वे गृहों के घूमने के दायरों के बारे में दूसरी तरह से सोच न सके। इसकी वजह अरस्तू के नज़रिये की महानता थी। इस नज़रिये को उन्होंने बिना किसी बहस के एक पूरी सच्चाई मान लिया। इसीलिए उनका ज़ेहन किसी और अन्दाज़ में काम नहीं कर पाता था।

यह सिर्फ़ पुराने ज़माने की बात नहीं, यह हर दौर की बात है। हर ज़माने में ऐसा होता है कि कुछ ख़यालात आदमी के दिमाग़ पर इतना ज़्यादा छा जाते हैं कि उनसे निकल कर स्वतन्त्र रूप से सोचना आदमी के लिए नामुमकिन हो जाता है। यह मज़हबी दायरे में भी होता है और ग़ैर-मज़हबी दायरे में भी। यह बंद ज़ेहन हर क़िस्म की तरक़्क़ी में सबसे बड़ी रुकावट है।

ऊंची उड़ान

जापान एयरलाइन्स का एक जहाज़ (बोइंग 747) 12 अगस्त 1985 को टोकियो से उड़ा। उसे एक घंटे में ओसाका पहुंचना था। मगर उड़ान के सिर्फ़ दस मिनट बाद पायलट ने महसूस किया कि उसने जहाज़ पर अपना नियंत्रण खो दिया है। जहाज़ को 24 हज़ार फुट की बुलन्दी पर उड़ना था। मगर वह उतरते-उतरते 9800 फुट की बुलन्दी पर आ गया। और आख़िरकार वह पहाड़ से टकरा कर तबाह हो गया।

उस जहाज़ के 520 मुसाफ़िर मर गए। इन मरने वालों में हिन्दुस्तान के एक इंजीनियर श्री कल्याण मुखर्जी और उनकी बीवी भी थीं, श्री मुखर्जी की उम्र 41 साल थी। वह हाल ही में एक व्यापारिक मुहिम के लिए जापान गए थे। जापान से उन्होंने अपने लड़के रंजन मुखर्जी (13 साल) के नाम ख़त लिखा कि वह अपनी पत्नी के साथ 12 अगस्त को एक तफ़रीही सफ़र (pleasure trip) पर टोकियो से ओसाका जा रहे हैं (*हिन्दुस्तान टाइम्स,* 14 अगस्त 1985)

जहाज़ को ऊंचाई पर उड़ाने का एक मक़्सद यह है कि वह पहाड़ों या ऊंची इमारतों से न टकराए। उस जहाज़ के लिए ‘24 हज़ार फुट’ की ऊंचाई सुरक्षित थी। मगर जब उसके इंजन में ख़राबी आ गई, तो वह उस सुरक्षित ऊंचाई पर क़ायम न रह सका। वह उतरते-उतरते 9800 फुट की ऊंचाई पर आ गया; अब वह सुरक्षित ऊंचाई की सतह पर नहीं रहा। इसलिए वह पहाड़ से टकरा कर तबाह हो गया।

यही मामला इंसानी ज़िंदगी का भी है। हमारी ज़िन्दगी का सफ़र बेशुमार इन्सानों के बीच होता है। अगर हम अपने विचारों के लिहाज़ से नीची सतह पर सफ़र करें तो बार-बार दूसरों से टकराव होता रहेगा। इसका एकमात्र हल यह है कि आदमी विचारों के लिहाज़ से अपने आपको इतनी ऊंचाई पर पहुंचा दे कि दूसरों से टकराव की संभावना ही उसके लिए ख़त्म हो जाए।

एराज़ (बच कर चलने) का इस्लामी उसूल आदमी को यही बुलन्दी प्रदान करता है। एराज़ हक़ीक़त में वही चीज़ है जिसको कुछ चिन्तकों ने ज़िन्दगी के

मसले का उच्च समाधान (superior solution) कहा है। बराबर के स्तर पर चलते रहने से दूसरों से टकराने की संभावना बनी रहती है। इसलिए समझदार व्यक्ति अपने चलने का स्तर ऊँचा कर लेता है, ताकि उसका किसी से टकराव न हो। इसी बुलंद सोच और दूरदर्शिता को अपनाना ही 'एराज़' कहलाता है।

अज्ञानता

एक व्यक्ति का कहना है कि ज़्यादातर हालात में इंसान के लिए दूसरा सबसे अच्छा (second best) हासिल करना मुमकिन होता है, लेकिन वह पहले सबसे अच्छे (first best) को पाने की दौड़ में लग जाता है। नतीजा यह होता है कि असंभव चीज़ की चाह में वह मुमकिन को भी खो देता है।

एक व्यक्ति ने एक अरबी मदरसे में पढ़ाई की। पढ़ाई पूरी करने के बाद वह गाँव की मस्जिद में मामूली तनख़्वाह पर इमाम बन गए। कुछ समय बाद उनकी मुलाक़ात एक बड़े मदरसे के नाज़िम साहब से हुई। नाज़िम साहब ने महसूस किया कि उनमें काबिलियत है, इसलिए उन्होंने इमाम साहब को अपने मदरसे में बुला लिया। जल्द ही उन्हें तरक़्क़ी मिली और वे नाज़िम साहब के सहायक (assistant) नियुक्त हो गए।

अब मदरसे के बड़े परिसर में उन्हें रहने के लिए साफ़-सुथरा मकान मिल गया। एक जीप उनके इस्तेमाल में रहने लगी। अच्छी तनख़्वाह और दूसरी सुविधाएँ इसके अलावा थीं। इमाम साहब को चाहिए था कि वे अल्लाह का शुक्र अदा करें और इसी पर संतुष्ट रहें। लेकिन उन्हें सहायक का पद दूसरा दर्जा (second best) लगा। उन्होंने चाहा कि मैं पहला दर्जा (first best) हासिल कर लूँ, यानी खुद नाज़िम की जगह पर पहुँच जाऊँ।

इसलिए उन्होंने नाज़िम के खिलाफ़ तरह-तरह की साज़िशें रचनी शुरू कीं, जिनकी विस्तार से चर्चा यहाँ आवश्यक नहीं। सार यह कि जब नाज़िम साहब

को उनकी चालों का पता चला तो उन्होंने अपने प्रभाव का इस्तेमाल कर उन्हें मदरसे से निकलवा दिया। उनका सामान सड़क पर फेंक दिया गया, जीप छीन ली गई, और मजबूर होकर उन्हें शहर छोड़ना पड़ा। अब वे फिर अपने गाँव की मस्जिद में इमाम बनकर ज़िंदगी गुज़ार रहे हैं। ऊपर से इस घटना के कारण उनकी जो बदनामी हुई, उसके बाद कोई संस्थान उन्हें स्वीकार करने को तैयार नहीं है।

इस दुनिया में कामयाबी का असली रहस्य संतोष और शुक्रगुज़ारी में छिपा है। यही वह हक़ीक़त है, जिसे इस कथन में "दूसरे दर्जे की बेहतरीन चीज़" के रूप में व्यक्त किया गया है। दूसरे दर्जे की बेहतरीन चीज़ पर संतुष्ट होना अपने आपको पीछे करना नहीं, बल्कि एक व्यावहारिक और समझदारी भरी शुरुआत करना है। इसी कारण जो व्यक्ति शुरुआती दौर में दूसरे दर्जे की बेहतरीन चीज़ को स्वीकार कर लेता है, वह आगे चलकर सबसे बेहतर मुकाम तक भी पहुँच जाता है। जबकि जो ऐसा नहीं करता, वह दूसरे दर्जे की बेहतरीन चीज़ को भी खो देता है और सबसे बेहतर से भी वंचित रह जाता है।

हार मानकर

दूसरे विश्वयुद्ध में जापान को अमेरिका के मुक़ाबले में हार का सामना करना पड़ा। इसके बाद अप्रैल 1945 में अमेरिकी सेनाएँ जापान में उतरीं। जनरल डगलस मैकआर्थर (Douglas MacArthur) को अमेरिका की ओर से जापान के सर्वोच्च सेनापति नियुक्त किया गया, और वे 1951 तक वहाँ रहे। उनके मार्गदर्शन में जापान का नया संविधान तैयार किया गया, जिसे 3 नवम्बर 1946 को जापानी संसद ने मंज़ूर किया। इस संविधान के अनुसार जापान के सम्राट की शक्ति घटाकर उन्हें केवल प्रतीकात्मक शासक (Symbol of the State) बना दिया गया। संविधान की धारा 9 के तहत जापानी राष्ट्र ने यह वचन लिया कि

वह कभी भी भूमि, जल या वायु सेना नहीं रखेगा और न ही किसी प्रकार की युद्ध-तैयारी करेगा:

> "Land, sea, and air forces, as well as other war potential, will never be maintained." (*Encyclopedia Britannica*, Vol. 10, p. 87).

यह संविधान देखने में जापान की स्थायी राष्ट्रीय मृत्यु के समान था। लेकिन जापान के नेताओं ने दूरदर्शिता से काम लेते हुए इसे पूरी तरह स्वीकार कर लिया। क्योंकि उन्होंने देखा कि यह संविधान अगरचे सैन्य और राजनीतिक दृष्टि से जापान के लिए कार्य का मार्ग बंद कर देता है, फिर भी विज्ञान और उद्योग के क्षेत्र में उनके लिए आगे बढ़ने का रास्ता पूरी तरह खुला है।

इसलिए जापानी जनता ने युद्ध और राजनीति के संघर्षों से हटकर ज्ञान और उद्योग के क्षेत्र में अपने शेष अवसरों को अपनाया। परिणाम यह हुआ कि केवल 40 वर्षों के भीतर इतिहासकारों को यह लिखना पड़ा—1945 की विश्वयुद्ध में पराजित जापान, युद्ध के मलबे से फिर खड़ा हुआ और विश्व की एक महान आर्थिक शक्ति बन गया:

> Defeated in World War II (1945), Japan emerged from the war's ruins as one of the world's major economic powers (V/519).

वर्तमान को स्वीकार कर लेना मनुष्य के लिए भविष्य का मार्ग खोल देता है। जो लोग वर्तमान को नहीं मानते, वे भविष्य की महान संभावनाओं से भी वंचित रह जाते हैं।

सफलता का राज़

एक पश्चिमी विचारक का कथन है:

> "That which does not kill me makes me stronger."
>
> (जो चीज़ मुझे नहीं मारती, वह मुझे और भी मज़बूत बना देती है)

जब इंसान किसी बड़ी मुश्किल का सामना करे और हिम्मत न हारे, बल्कि सोच-विचार के ज़रिए उसका हल निकाले, तो वह अपने अंदर एक नई ताकत पैदा कर लेता है। उसने अपने भीतर वह क्षमता जगा ली, जिससे वह मुश्किल हालात का सामना कर सके और रुकावटों के बावजूद आगे बढ़ता रहे। मुश्किलें नासमझ इंसान को तबाह कर देती हैं, लेकिन समझदार इंसान के लिए यही मुश्किलें तरक्की की सीढ़ी बन जाती हैं।

ज़िंदगी में सफल होने के लिए सबसे महत्वपूर्ण चीज़ "उच्च विचारधारा" है। हमें उन सवालों से ऊपर उठना चाहिए जो अतीत या गुज़रे हुए दुखों पर आधारित होते हैं।

> "मेरे साथ ऐसा क्यों हुआ?" इस सवाल के बजाय इंसान को उन बातों पर सोचना चाहिए जो भविष्य के रास्ते खोलने वाले हों— "अब जब यह पेश आचुका है, मुझे इसके लिए क्या करना चाहिए":
>
> "We need to get over the questions that focus on the past and on the pain—Why did this happen to me?—and ask the question that opens doors to the future. Now that this has happened, what shall I do about it?''
>
> (Rabbi Harold Kushner, *When Bad Things Happen to Good People*)

यह दुनिया ऐसी बनी है कि यहां अप्रिय घटनाएं अक्सर होती हैं। इंसान बार-बार मुश्किलों में घिरता है। ऐसी स्थिति में सफल जीवन का केवल एक ही राज़ है—अतीत को भुलाकर भविष्य के बारे में सोचना। वह खोए हुए अवसरों पर अफसोस करने के बजाय, अपनी पूरी ऊर्जा उन संभावनाओं पर लगाए जो अभी भी उसके पास मौजूद हैं, जो अब तक नष्ट नहीं हुई हैं—वर्तमान को स्वीकार करना इंसान के लिए भविष्य के दरवाजे खोलता है। और वर्तमान को न मानने से इंसान न केवल वर्तमान खो देता है, बल्कि आने वाले भविष्य से भी वंचित हो जाता है।

मुजरिम कौन

एक आदमी को गुलाब का फूल तोड़ना था। वह शौक़ में लपककर उसके पास पहुंचा और झटके में एक फूल तोड़ लिया। फूल तो उसके हाथ में आ गया, लेकिन जल्दबाज़ी में कई कांटे उसके हाथ में चुभ चुके थे। उसके साथी ने कहा कि तुमने बड़ी मूर्खता की, तुमको चाहिए था कि कांटो से बचते हुए एहतियात के साथ फूल तोड़ते। तुमने एहतियात वाला काम बेएहतियाती से किया, इसी का नतीजा है कि तुम्हारा हाथ ज़ख्मी हो गया।

अब फूल तोड़ने वाला गुस्सा हो गया। उसने कहा कि सारा क़ुसूर तो इन कांटों का है। उन्होंने मेरी हथेली और उंगलियों से खून निकाल दिया। और तुम उल्टा मुझको मुजरिम और ग़लत ठहरा रहे हो। उसका साथी बोला, मेरे दोस्त, यह पौधे के कांटों का मामला नहीं, यह क़ुदरत की प्रबंधन-व्यवस्था का मामला है। क़ुदरत ने दुनिया की व्यवस्था इसी तरह बनाई है कि यहां फूल के साथ-साथ कांटे भी हों। मेरी और तुम्हारी चीख़ व पुकार ऐसा नहीं कर सकती कि इस व्यवस्था को बदल दे। फूल के साथ कांटे की यह व्यवस्था तो हर हाल में इसी तरह दुनिया में रहेगी। अब मेरी और तुम्हारी कामयाबी इसमें है कि हम इस सच्चाई को मानते हुए इससे बचने की तदबीर तलाश करें। और वह तदबीर यह है कि कांटों से बच कर फूल को हासिल करें। कांटों में न उलझते हुए फूल तक पहुंचने की कोशिश करें।

फूल के साथ कांटे का होना कोई सादा बात नहीं। यह फ़ितरत और क़ुदरत की ज़ुबान में इंसान के लिए सबक़ है। यह प्रकृति की भाषा में इन्सानी हक़ीक़त का ऐलान है। यह उस सृष्टि-निर्माण योजना का परिचय है, जिसके अनुसार ख़ुदा ने इस संसार की रचना की है। इसका अर्थ यह है कि इस दुनिया में वही क़दम सफल होता है, जो सावधानी और विवेक के सिद्धांतों के अनुसार उठाया जाए।

जहाँ सावधानी से बच निकलने की आवश्यकता हो, वहाँ उलझ पड़ना, और जहाँ समझदारी से उपाय करने की ज़रूरत हो, वहाँ उत्तेजना और हंगामा खड़ा

करना दरअसल अपनी नासमझी और अयोग्यता का परिचय देना है। ख़ुदा ने जिस मौक़े पर बच कर चलने का तरीक़ा इख़्तियार करने का हुक्म दिया हो, वहां उलझने का तरीक़ा इख़्तियार करना ख़ुद अपने आपको मुजरिम बनाना है। चाहे आदमी ने दूसरों को मुजरिम साबित करने के लिए डिक्शनरी के तमाम अल्फ़ाज़ दोहरा डाले हों।

मुश्किल में आसानी

पारंपरिक तरीके के कोल्हू में जब गन्ना डाला जाता है, तो उसमें दबाव कम होता है और गन्ने को बेलनों के बीच से सिर्फ एक बार निकाला जाता है। नतीजतन, गन्ने का लगभग 25% रस उसके अंदर ही रह जाता है।

बिजली से चलने वाले क्रशर (Crusher) में तुलनात्मक रूप से ज़्यादा दबाव होता है और गन्ने को बेलनों के बीच से दो बार निकाला जाता है। फिर भी, लगभग 15% रस नहीं निकल पाता। बड़ी-बड़ी मिलों में बहुत अधिक दबाव डाला जाता है और गन्ने को चार बार मशीन के बेलनों के बीच से निकाला जाता है। इसका नतीजा यह होता है कि गन्ने का लगभग सारा रस बाहर निकल आता है।

यह एक उदाहरण है जिससे यह अंदाज़ा लगाया जा सकता है कि “दबाव” कितना महत्वपूर्ण है। अल्लाह ने इस दुनिया में जो चीजें बनाई हैं, उनमें अनगिनत संभावनाएं रखी हैं। लेकिन किसी चीज़ के अंदर छुपी हुई क्षमता तभी बाहर आती है जब उस पर दबाव डाला जाए। दबाव जितना अधिक होगा, उतनी ही अधिक उसकी छुपी हुई क्षमता बाहर आएगी।

यही स्थिति इंसान की भी है। हर इंसान के अंदर जन्मजात अनगिनत क्षमताएं होती हैं। आम परिस्थितियों में ये क्षमताएं अंदर ही छुपी रहती हैं। वे तभी प्रकट होती हैं जब इंसान दबाव का सामना करता है और उसकी शख्सियत को निचोड़ने वाली प्रक्रिया से गुज़ारा जाता है।

इतिहास में जितने भी लोगों ने बड़ी तरक्की की है, वे वही लोग थे जिन्होंने अपने माहौल में दबाव के हालात का सामना किया। जिन्होंने क़ुरान 94:5-6 के इस कथन “इन्न म’अल उस्र युस्रा” (हर कठिनाई के साथ आसानी है) के रचनात्मक रहस्य को समझा। जिन्होंने जीवन के मैदान में इस हौसले के साथ क़दम रखा कि वे मुश्किलों की ज़मीन पर सफलता का पौधा उगाएंगे।

इंसानी नज़र कठिनाई को सिर्फ कठिनाई के रूप में देखती है। लेकिन ईश्वरीय नज़र वह है, जो कठिनाई को आसानी के रूप में देखना सीख ले।

दुकानदारी

दुकानदार वह है जो दुकानदार बनने के साथ-साथ ग्राहक भी बन जाए। जो सिर्फ बेचने वाला न हो, बल्कि साथ ही खरीदने वाला भी हो। वह खुद को भी समझे और साथ ही अपनी दुकान पर आने वाले संभावित खरीदार को भी समझे।

दुकानदार और ग्राहक दोनों बिल्कुल अलग तरह के इंसान होते हैं। दुकानदार का ध्यान पैसे की तरफ़ होता है, जबकि ग्राहक का ध्यान सामान की तरफ। दुकानदार की नज़र ग्राहक की जेब पर होती है, और ग्राहक की नज़र दुकानदार के सामान पर। लेकिन जो दुकानदार सिर्फ यह जानता हो कि उसे ग्राहक की जेब से पैसा निकालना है, वह कभी बड़ा दुकानदार नहीं बन सकता।

सफल दुकानदार वह है जो ग्राहक को एक किताब की तरह पढ़े। जो ग्राहक की ज़रूरत को अपनी ज़रूरत बनाए। जो ग्राहक के दिल की धड़कन को अपने सीने में महसूस करे। जो यह समझे कि ग्राहक उससे क्या चाहता है। जो यह जाने कि ग्राहक अपनी इच्छा के अनुसार किस चीज़ से संतुष्ट होगा।

एक दुकानदार वह है जो सड़क पर दुकान खोलकर बैठ जाए। कोई ग्राहक आए तो सामान पर छपी हुई क़ीमत देखकर उसे दाम बता दे। ग्राहक अगर सामान मांगे

तो सामान दे दे। अगर ग्राहक सामान देखकर रख दे, तो दुकानदार फिर अपनी सीट पर बैठ जाए या इत्मीनान से अखबार पढ़ने लगे।

दूसरा दुकानदार वह है जिसका शरीर दुकान में हो, लेकिन उसका दिमाग़ सड़कों और बाज़ारों में घूमता हो। मानसिक रूप से वह ग्राहकों के बीच चल-फिर रहा हो। ग्राहक के बताने से पहले ही वह उसकी ज़रूरत और मांग को जानता हो। वह ग्राहक को एकतरफा खुश करने की कोशिश करे, चाहे ग्राहक ने किसी बात से उसे नाराज़ ही क्यों न कर दिया हो।

वह आखिरी हद तक ग्राहक का हितैषी बन जाए, चाहे ग्राहक पहली बार उसकी दुकान पर आया हो और यह संभावना हो कि वह दोबारा कभी न आए।

मौजूदा समाज

इंडियन एक्सप्रेस (24 नवंबर 1988) मेरे सामने है। इसके पहले पन्ने पर लिखा है कि दिल्ली की 26 वर्षीया महिला प्रोवेश को उसकी सास बृसा रानी ने मार डाला। उसने अपनी बहू पर मिट्टी का तेल डालकर आग लगा दी—सिर्फ इसलिए कि प्रोवेश ने ससुराल वालों की यह मांग पूरी नहीं की थी कि वह अपने मायके से दस हज़ार रुपये लाकर उन्हें दे।

अगले दिन फिर इंडियन एक्सप्रेस (25 नवंबर 1988) के पहले पन्ने पर यह शीर्षक था:

Another Dowry Victim

ख़बर के अनुसार दिल्ली की 26 साल की महिला अरविंद राणा को उसके ससुराल वालों ने मार डाला। वजह फिर वही थी—ससुराल वालों की दहेज की मांग को उसने पूरा नहीं किया था। ऐसी खबरें हर दिन अख़बारों में पढ़ी जा

सकती हैं। पुलिस इन मौतों को "दहेज की मौत" (dowry death) कहती है। दहेज के कारण मौत की बढ़ती हुई घटनाओं पर राज्य सभा में प्रश्न उठाया गया। गृह मंत्रालय के राज्यमंत्री श्री पी. चिदंबरम ने हिंदुस्तान टाइम्स (25 नवंबर 1988) के अनुसार जो आँकड़े दिए, वे ये थे:

1985—999 मौतें

1986—1319 मौतें

1987—1786 मौतें

भारत का वर्तमान समाज जिस वहशीपन और बर्बरता की सीमा तक पहुँच चुका है, यह उसका केवल एक पहलू है। इस प्रकार की घटनाएँ बताती हैं कि आज हम जिस समाज में रह रहे हैं, वह सभ्य मनुष्यों का नहीं बल्कि खूंखार भेड़ियों का समाज है। ऐसी स्थिति में सांप्रदायिक दंगों पर चिल्लाना या उनके ख़िलाफ़ बयान देना केवल एक मूर्खतापूर्ण प्रतिक्रिया है। ऐसी हालत में किसी समझदार व्यक्ति के लिए बचाव का एक ही रास्ता है—वह इन इंसानों के रूप में छिपे जानवरों से दूरी बनाए रखे। अगर उनकी ओर से उकसाने की घटना हो भी जाए, तब भी उसे उत्तेजित नहीं होना चाहिए। कोई भी व्यक्ति जानवर से नहीं लड़ता, जानवर से दूरी बनाई जाती है, न कि युद्ध।

सपने में

श्री राम रतन कपिला रेफ्रिजरेटर और एयरकंडीशनर का व्यापार करते हैं। उनकी फ़र्म का नाम कैपसन्स है। नई दिल्ली में आसफ़ अली रोड पर इसका हैड आफ़िस है।

मिस्टर राम रतन कपिला को अपनी फ़र्म के लिए एक स्लोगन की ज़रूरत थी। उन्होंने अख़बार में विज्ञापन दिया कि जो शख़्स कम अल्फ़ाज़ में एक अच्छा स्लोगन बना देगा उसको अच्छा इनाम दिया जाएगा। बार-बार विज्ञापन देने के

बावजूद कोई ऐसा शख़्स न मिला जो उन्हें अच्छा स्लोगन दे सके। कुछ लोगों ने कुछ लाइनें लिख कर भेजीं पर श्री कपिला को वे पसंद नहीं आईं। “स्लोगन को ज़ोरदार और असरदार होना चाहिए, पर ये स्लोगन ऐसे न थे,” 4 दिसम्बर 1983 की एक मुलाक़ात में उन्होंने कहा।

मिस्टर कपिला इसी उधेड़बुन में रात-दिन लगे रहे। वह लगातार इसके बारे में सोचते रहे। उनका दिमाग़ बराबर स्लोगन की तलाश में लगा हुआ था, पर कामयाबी नहीं मिल रही थी।

इस फ़िक्र में करीब छः साल बीत गए। इसके बाद ऐसा हुआ कि श्री कपिला ने एक रोज़ एक ख़्वाब देखा। ख़्वाब में उन्होंने देखा कि वह एक बाग़ में हैं। बेहद सुहाना मौसम है। तरह-तरह की चिड़ियां पेड़ों पर चहचहा रही हैं। यह नज़ारा देख कर वह बेहद ख़ुश हो गए। उनके मुंह से निकला: “वैदर (weather) हो तो ऐसा।”

यह कहते ही उनकी आंख खुल गई। अचानक उन्हें लगा कि वह स्लोगन उन्होंने पा लिया है जिसकी तलाश में वह बरसों से परेशान थे। फ़ौरन उनके ज़ेहन में यह अंग्रेज़ी जुमला आ गया: KAPSONS: The Weather Masters

स्वप्न इंसानी दिमाग़ की वह सरगर्मी है जिसको वह नींद की हालत में जारी रखता है। अगर आप अपने ज़ेहन को सारे दिन किसी चीज़ में लगाए रखें तो रात के वक़्त वही चीज़ ख़्वाब में आपके सामने आएगी। इतिहास की बहुत सी खोजें स्वप्न के ज़रिए दुनिया में आई हैं। इसकी वजह यह थी कि खोज करने वाला (आविष्कारक) अपनी खोज में इतना डूब गया कि वह सोते में भी उसी का सपना देखने लगा। ख़्वाब दरअस्ल किसी चीज़ में ज़ेहनी तौर पर पूरी तरह खो जाने या लग जाने का नतीजा है। ऐसे आदमी के काम करने का वक़्त 12 घंटे के बजाय 24 घंटे हो जाता है। यही किसी मक़्सद में कामयाब होने का राज़ है। इस क़िस्म के गहरे लगाव के बिना कोई बड़ा काम नहीं किया जा सकता, न दुनिया का और न आख़िरत का।

सफल यात्रा

20 जनवरी 1984 की सुबह थाई एयरवेज का एक विमान (Boeing 747) कराची से पश्चिम की ओर उड़ान भर रहा था। यह विमान 29,000 फीट की ऊंचाई पर उड़ रहा था। उसी समय इंडियन एयरलाइंस का एक विमान मुंबई से दिल्ली की ओर उड़ने वाला था। इस विमान को भी 29,000 फीट की ऊंचाई पर उड़ना था। उड़ान भरने से ठीक पहले एयर ट्रैफिक कंट्रोल को पता चला कि थाई एयरवेज का विमान उसी दिशा में आ रहा है।

यदि इंडियन एयरलाइंस का पायलट अपने प्रोग्राम के अनुसार जहाज़ उड़ाता, तो मंदसौर (मध्य प्रदेश) के ऊपर दोनों विमानों की टक्कर हो जाती। इससे थाई एयरवेज और इंडियन एयरलाइंस दोनों के विमान और उनके यात्री नष्ट हो गए। (*टाइम्स ऑफ इंडिया*, 25 जनवरी 1984)

एयर ट्रैफिक कंट्रोल को अंतिम क्षण में इस बात की जानकारी मिली। उन्होंने तुरंत इंडियन एयरलाइंस के कप्तान को दो विकल्प दिए:

1. 25,000 फीट की ऊंचाई पर उड़ान भरें।
2. यदि 29,000 फीट की ऊंचाई पर ही उड़ान भरनी है, तो 25 मिनट देरी से उड़ान शुरू करें।

इंडियन एयरलाइंस के कप्तान ने दूसरी सलाह पसंद की और 25 मिनट की देरी के बाद विमान उड़ाया। इस तरह दोनों विमान मध्य-आकाशीय टक्कर (mid-air collision) से बच गए।

इंडियन एयरलाइंस का विमान अपने मूल कार्यक्रम के अनुसार सुबह 7 बजे मंदसौर के ऊपर से गुजरता। लेकिन कार्यक्रम में बदलाव के बाद यह सुबह साढ़े 7 बजे वहां से निकल गया। इंडियन एयरलाइंस के एक अधिकारी ने इस घटना का उल्लेख करते हुए कहा:

> "It was a miracle that saved passengers on both aircraft."
> (यह एक चमत्कार था जिसने दोनों विमानों के यात्रियों को बचा लिया।)

यही ज़िंदगी का भी मामला है।

यदि आप "29,000 फीट" की ऊंचाई पर उड़ना चाहते हैं, तो यह न भूलें कि वहां और लोग भी उड़ रहे हैं। ऐसी स्थिति में आपके पास दो ही विकल्प हैं:

1. दूसरों का ख्याल न करते हुए उड़ान भरें और फिर नष्ट होकर झूठी कुर्बानी की मिसाल बनें।
2. या फिर ऐसा "चमत्कार" दिखाएं कि या तो दूसरों से नीचे उड़कर आगे निकल जाएं या फिर "आधे घंटे" की देरी से उड़ान शुरू करें।

दूसरी स्थिति में आप सफल रहेंगे और सुरक्षित अपनी मंज़िल तक पहुंच जाएंगे।

हर तरह के अवसर

26 फरवरी 1988 की सुबह दिल्ली के सभी अखबारों के पहले पन्ने पर यह बड़ी ख़बर छपी थी —भारत के पहले मिसाइल का सफलतापूर्वक परीक्षण।

25 फरवरी को संसद में तालियों की गूंज के बीच प्रधानमंत्री राजीव गांधी ने घोषणा की कि भारत ने जमीन से जमीन पर मार करने वाला मिसाइल 'पृथ्वी' तैयार कर लिया है और उसका सफल परीक्षण भी किया जा चुका है। यह मिसाइल पूरी तरह भारतीय तकनीक से बनाई गई है। यह शुद्ध रूप से रक्षात्मक प्रकृति का है और इसकी रेंज 250 किलोमीटर है। इस तरह भारत अब उन चार देशों (अमेरिका, रूस, फ्रांस और चीन) में शामिल हो गया जो ज़मीन से ज़मीन तक मार करने वाले मिसाइल बनाने की क्षमता रखते हैं।

हिंदुस्तान टाइम्स (26 फरवरी 1988) के अनुसार एक खबर में बताया गया कि पृथ्वी मिसाइल हैदराबाद के रक्षा अनुसंधान एवं विकास प्रयोगशाला (DRDO) में तैयार किया गया। यह काम वैज्ञानिकों की एक टीम ने किया जो डॉक्टर अब्दुल कलाम की देखरेख में काम कर रही थी:

> "The 'Prithvi' missile was developed at the Defence Research and Development Laboratory at

> Hyderabad under a team of scientists headed by Dr Abdul Kalam."

रक्षा अनुसंधान का काम अत्यंत नाज़ुक और जिम्मेदारी भरा होता है। इस क्षेत्र में काम करने के लिए उन्हीं लोगों को चुना जाता है जिनमें दो गुण हों—उच्च तकनीकी दक्षता और भरोसेमंद व्यक्तित्व। ऐसे ही एक महत्वपूर्ण पद के लिए डॉ. अब्दुल कलाम का चयन होना अपने आप में एक बड़ी सीख है। यह घटना बताती है कि भारत में अल्पसंख्यकों के लिए हर तरह की तरक्की के अवसर पूरी तरह उपलब्ध हैं। यदि वे अपनी योग्यता साबित करें, तो वे देश के सर्वोच्च क्षेत्रों में भी ऊँचे पद हासिल कर सकते हैं।

सच्चाई यह है कि आज की दुनिया में असली क़ीमत योग्यता की है। जो व्यक्ति अपनी काबिलियत का सबूत देता है, उसे हर जगह सम्मान मिलता है—और जो ऐसा नहीं कर पाता, वह हर जगह अपमानित होकर रह जाता है।

असमर्थता के बावजूद

"मैंने 1982 में अपनी टांग खो दी थी और तभी से मैं दुनिया के चारों ओर समुद्री यात्रा कर रहा हूं," यह बात ट्रिस्टन जोन्स (Tristan Jones) ने बैंकॉक में थाईलैंड के विकलांग बच्चों के एक समूह से कही। वे एक नाविक, लेखक और साहसी व्यक्ति हैं। उनका संदेश बिल्कुल स्पष्ट था:

> "आप ये इंतज़ार न करें कि दूसरे लोग आपकी मदद करेंगे। आपको आत्मनिर्भर बनने और अपने तरीके से काम करने का हुनर सीखना चाहिए," दाढ़ी वाले कप्तान ने कहा।

53 वर्षीय जोन्स 1952 से अपने तरीके से असाधारण काम करते आ रहे हैं, जब उन्हें ब्रिटेन की रॉयल नेवी से यह कहकर हटा दिया गया था कि वे शारीरिक रूप से समुद्र के लिए अनुपयुक्त हैं। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान सैन्य सेवा के दौरान

उनके पैर में घाव हो गया था। यह घाव अंततः उनकी विकलांगता का कारण बना और 1982 में उनका बायां पैर घुटने के ऊपर से काट दिया गया।

1953 से जोन्स दुनिया को यह साबित करते आ रहे हैं कि वे शारीरिक रूप से समुद्र के लिए अनुपयुक्त नहीं हैं। पिछले 34 वर्षों में उन्होंने 6,40,000 किलोमीटर की समुद्री यात्रा की है। उन्होंने बीस बार अटलांटिक महासागर पार किया है (जिसमें से नौ बार अकेले) और पृथ्वी के चारों ओर तीन बार समुद्री यात्रा पूरी की है।

> "I lost my leg in 1982 and have been sailing around the world ever since," Tristan Jones – sailor, author, and adventurer – told a group of handicapped Thai children in Bangkok, reports DPA. The message was clear:
>
> "You must not wait for people to help you. You must learn to help yourself and must do things your own way," the bearded Welsh captain said.
>
> Jones, 53, has been doing extraordinary things his own way since 1952, when he was discharged from Britain's Royal Navy for being "physically unfit for sea." He had received a leg wound in active duty during World War II, which eventually led to his invalid status and, in 1982, resulted in the amputation of his left leg, above the knee.
>
> Since 1953, Jones has been proving to the world that he is anything but "physically unfit for sea." In the past 34 years, he has sailed 640,000 kilometers (all in crafts under 40 feet), made 20 trans-Atlantic ocean

crossings (nine single-handed), and circumnavigated the world three times.

(*The Times of India*, New Delhi, August 18, 1987)

सफलता का रहस्य

डॉ. सी. वी. रमन (Sir Chandrasekhara Venkata Raman, 1888-1970) भारत के महानतम वैज्ञानिकों में से एक हैं। 1930 में उन्हें भौतिकी का नोबेल पुरस्कार मिला। वे विज्ञान के क्षेत्र में नोबेल पुरस्कार पाने वाले पहले एशियाई थे। इसके बाद वे विश्व भर में प्रसिद्ध हो गए। उनकी वैज्ञानिक खोज "रमन प्रभाव (Raman Effect)" आज विज्ञान के स्थापित सिद्धांतों में मानी जाती है।

रमन का जन्म एक साधारण परिवार में हुआ। उनके पिता मात्र दस रुपये महीने की तनख्वाह पर स्कूल शिक्षक थे। उन्होंने कठिन हालात में अपनी असाधारण मेहनत से विज्ञान के क्षेत्र में ऊंचा स्थान प्राप्त किया। उन्होंने अपनी सफलता की यात्रा को इन शब्दों में व्यक्त किया:

"A long history of frustration, disappointment, struggle and every kind of tribulation."

(एक लंबा इतिहास असफलता, निराशा, संघर्ष और हर तरह की कठिनाइयों का।)

एक व्यक्ति ने रमन की वैज्ञानिक सफलता को कम आंकने की कोशिश करते हुए कहा कि वे अपनी खोज तक सिर्फ "संयोग" से पहुंचे हैं, जैसे कई अन्य वैज्ञानिक भी संयोग से अपनी खोज करते हैं। यह सुनकर रमन ने गंभीरता से कहा:

"The idea that a scientific discovery can be made by

accident is ruled out by the fact that the accident, if it is one, never occurs except to the right man.”

(यह विचार कि वैज्ञानिक खोज संयोग से की जा सकती है, इस तथ्य की वजह से गलत है कि संयोग, अगर होता भी है, तो केवल सही व्यक्ति के साथ ही होता है।)

डॉ. रमन ने अपनी ज़िंदगी की आखिरी खोज का सार इन शब्दों में बयान किया:

“The right man, right thinking, right instruments, and right results.”

(सही व्यक्ति, सही सोच, सही उपकरण, और सही परिणाम।)

कितना फ़र्क़

1 सितम्बर 1983 को कोरिया एयरलाइंस का एक यात्री विमान (Flight 007) न्यूयॉर्क से सियोल के लिए रवाना हुआ। जब वह कामचात्का (Kamchatka) के ऊपर उड़ रहा था, तो सोवियत सेना ने उसे मार गिराया। विमान में चालक दल सहित 269 यात्री सवार थे—सभी की मृत्यु हो गई। इसके बाद सोवियत सरकार ने सफाई दी कि उन्होंने उसे यात्री विमान समझकर नहीं गिराया, बल्कि उन्होंने उसे अमेरिकी जासूसी विमान (RC-135 spy plane) समझा और अपनी रक्षा में उस पर हमला किया। लेकिन अमेरिका ने इस सफाई को स्वीकार नहीं किया। उसका कहना था कि जासूसी विमान और यात्री विमान (Boeing 747) में इतना बड़ा अंतर है कि रडार स्क्रीन देखते समय गलती की कोई संभावना ही नहीं थी।

3 जुलाई 1988 को ठीक इसी तरह की इसके उलट एक घटना घटी। ईरान एयर का एक यात्री विमान (Airbus A-300) तेहरान से दुबई जा रहा था। वह फारस

की खाड़ी के ऊपर उड़ रहा था अमेरिकी जल सेना के जहाज़ यूएसएस विन्सेन्स (USS Vincennes) ने उसे मार गिराया। उसमें सवार 290 यात्री और चालक दल सभी मारे गए। अमेरिका ने भी यही तर्क दिया कि यह "गलतफहमी" में हुआ। उनका कहना था कि उन्होंने उसे यात्री विमान नहीं, बल्कि लड़ाकू विमान (F-14 jet fighter) समझकर आत्मरक्षा में हमला किया।

अमेरिका के विरोधियों ने इस सफाई को अस्वीकार कर दिया। उन्होंने कहा कि एयरबस के मुकाबले F-14 जेट लड़ाकू विमान बहुत छोटा होता है, और उसकी गति एयरबस से लगभग 250 किलोमीटर प्रति घंटा ज़्यादा होती है। अमेरिकी जल सेना की रडार स्क्रीन पर यह फर्क साफ़ दिखाई देता होगा, इसलिए दोनों में भ्रम की कोई संभावना नहीं थी।

(*टाइम्स ऑफ इंडिया*, 5 जुलाई 1988, पृष्ठ 12; *हिंदुस्तान टाइम्स*, 5 जुलाई 1988, पृष्ठ 13)

मनुष्य दूसरे की गलती पहचानने में तो अत्यंत चालाक है, लेकिन अपनी गलती समझने में अत्यंत मूर्ख बन जाता है। यही दोहरा मापदंड सारी बुराइयों की जड़ है। अगर लोग एक समान मानक अपनाएँ, तो सारी बुराइयाँ अपने आप समाप्त हो जाएँ।

उद्देश्य का महत्व

कर्नाटक के हासन ज़िले में एक गांव है जिसका नाम थपरघट्टा है। यहां एक व्यक्ति था जिसका नाम लछ नाइक था, जो झोंपड़ी में रहता था और चौकीदारी का काम करता था। उसके चार बच्चे थे। उसने निश्चय किया कि वह अपनी तीन बेटियों को "देवी चामुंडेश्वरी" को बलि चढ़ा देगा।

23 अप्रैल 1988 को वह देवी की मूर्ति लाया, उसकी पूजा की और इसके बाद

अपनी तीन बेटियों (डेढ़ साल, तीन साल और तेरह साल) को दरांती से मार डाला। जब उसके 8 वर्षीय बेटे राजकुमार ने इसका विरोध किया, तो उसने उस पर भी हमला कर दिया, जिससे उसका दायां हाथ कट गया। इस पागलपन भरे कृत्य के बाद वह भाग गया। चार दिन बाद उसकी लाश एक आम के पेड़ से लटकी हुई मिली।

लछ नाइक की पत्नी लली थम्मा (35 वर्ष) को मुख्यमंत्री राहत कोष से 5000 रुपये मिले और इंडियन रेड क्रॉस सोसाइटी से 1000 रुपये की मदद मिली। अब वह अपने बेटे के भविष्य के बारे में योजना बना रही है। उसका विचार है कि उसके बेटे को पढ़ाई करनी चाहिए। वह इसके लिए तैयार है कि अगर उसे बेटे की पढ़ाई के लिए जिंदगीभर काम करना पड़े, तो वह ऐसा करेगी।

उसे 50 रुपये प्रति माह विधवा पेंशन मिलने की उम्मीद है, और उसके बेटे को अपंगता भत्ते के रूप में इतनी ही राशि मिलेगी। राजकुमार, जिसके दाएं हाथ की पांचों उंगलियां कट चुकी हैं, अब बाएं हाथ से लिखना सीख रहा है। (*टाइम्स ऑफ इंडिया*, 28 अप्रैल 1988)

लली थम्मा का सब कुछ बर्बाद हो चुका था। ऐसे में यह स्वाभाविक था कि वह भी आत्महत्या कर लेती या अपने बेटे के साथ रोने और मातम करने में लग जाती। लेकिन उसने ऐसा नहीं किया। उसने सब कुछ भुलाकर सकारात्मक कदम उठाने की योजना बनाई।

इसका कारण यह था कि उसने अपने अपंग बेटे के भविष्य को संवारने में अपने लिए एक उद्देश्य खोज लिया था।

> "उद्देश्यपूर्ण व्यक्ति कभी हताश नहीं होता। इस दुनिया में हताश वही है, जो अपने उद्देश्य को खो देता है।"

उल्टा काम

अगर कोई व्यक्ति अपने बेटे को डॉक्टर बनाना चाहता हो और उससे कहे कि तुम पहले बाज़ार में एक दुकान लेकर चिकित्सालय खोल लो, उसके बाद डॉक्टरी पढ़ते रहना।—तो लोग उस पिता को पागल या कम-से-कम गैर-संजीदा व्यक्ति समझेंगे। क्योंकि पहले डॉक्टरी सीखी जाती है और क्लिनिक बाद में खोला जाता है। लेकिन अजीब बात यह है कि यही उल्टा काम हमारे लगभग सभी नेता कर रहे हैं, और इसके बावजूद कोई उन्हें गैर-संजीदा नहीं कहता, बल्कि उन्हें "विचारक" और "रहबर" "नेता" कहा जाता है।

मौजूदा ज़माने में जितने भी मुस्लिम नेता उठे, लगभग सभी ने अपनी क़ौम को इसी तरह की बेनतीजा राह दिखाई—पहले राजनीतिक आज़ादी हासिल करो, फिर राष्ट्रीय निर्माण करना; पहले ज़मीन का एक टुकड़ा ले लो, फिर वहाँ इस्लामी व्यवस्था लागू कराना; पहले सरकार पलट दो, फिर समाज सुधार का काम करना; पहले संसद से कानून पास कराओ, फिर लोगों की मानसिक सुधार करना, आदि।

ऐसी सभी बातें उतनी ही बेमानी हैं जितनी कि डॉक्टरी सीखे बिना डॉक्टरी की दुकान खोलना। यही कारण है कि सौ साल से ज़्यादा समय तक हंगामा मचाने के बावजूद मुसलमानों के हिस्से में बर्बादी और नाकामी के सिवा कुछ नहीं आया।

इंसान कोई लोहा या लकड़ी नहीं है जिसे चरणबद्ध तरीक़े से गढ़ा जा सके। इंसान एक ही बार बनता है—और पहली बार जैसा बन जाए, वैसा ही रहता है। यही वजह है कि बाहरी नारे और आंदोलनों पर आधारित आंदोलन अपने दूसरे चरण में हमेशा नाकाम हो जाते हैं। बाहरी लक्ष्य हासिल करने के बाद उनके नेता लोगों के "आंतरिक सुधार" की बातें करने लगते हैं, लेकिन ऐसी कोशिशों से एक फ़ीसदी भी परिणाम नहीं निकलता। इस तरह का अनुभव मानव प्रवृत्ति से अनजान होने का प्रमाण है—और दुर्भाग्य से आज के ज़्यादातर मुस्लिम नेता इसी अनजानपन की मिसाल बने हुए हैं।

क़ौम की असली तामीर दरअसल शऊर का निर्माण है—यानी चेतना का निर्माण। जब चेतना का निर्माण हो जाता है, तो हर चीज़ अपने आप हासिल हो जाती है। चेतना के बिना कोई भी चीज़ हासिल नहीं होती।

न्याय ज़िंदा है

भारत की पूर्व प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी की उनके नई दिल्ली निवास स्थान पर 31 अक्तूबर 1984 को हत्या कर दी गई थी। इस हत्या में चार व्यक्ति शामिल थे—सुरक्षा दल के बेअंत सिंह और सतवंत सिंह। दोनों ने प्रधानमंत्री पर गोलियाँ चलाईं। बेअंत सिंह को सुरक्षा पुलिस ने उसी समय गोली मारकर मार डाला, और सतवंत सिंह को गिरफ्तार कर लिया गया। बाक़ी दो व्यक्ति कहर सिंह और बलबीर सिंह थे, जिन्हें हत्या की साज़िश रचने और उसकी योजना बनाने का दोषी ठहराया गया था। इन तीनों पर मुक़दमा चला। दिल्ली के अतिरिक्त सत्र न्यायाधीश महेश चंद्र ने 22 जनवरी 1986 को अपना फैसला सुनाया, जिसमें सतवंत सिंह, क़हर सिंह और बलबीर सिंह को मौत की सज़ा दी गई। इसके बाद मामला हाईकोर्ट में गया। दिल्ली हाईकोर्ट ने 3 दिसंबर 1986 के अपने फैसले में तीनों की मौत की सज़ा को बरक़रार रखा। फिर अभियुक्तों ने इसके ख़िलाफ़ सुप्रीम कोर्ट में अपील की। सुप्रीम कोर्ट ने 3 अगस्त 1988 को अपना सर्वसम्मत निर्णय सुनाया। यह फैसला न्यायमूर्ति जी. एल. ओझा, न्यायमूर्ति सेठी और न्यायमूर्ति बी. सी. राय की तीन सदस्यीय पीठ ने दिया।

सुप्रीम कोर्ट ने अपने फैसले में सतवंत सिंह और क़हर सिंह की मौत की सज़ा को बरक़रार रखा, लेकिन बलबीर सिंह को पूरी तरह बरी कर दिया। बलबीर सिंह के ख़िलाफ़ हत्या में शामिल होने का कोई सीधा सबूत नहीं मिला। उदाहरण के लिए अभियोजन की ओर से यह कहा गया था कि श्रीमती इंदिरा गांधी की हत्या इसलिए हुई क्योंकि ऑपरेशन ब्लू स्टार के कारण सिख लोग उनसे नाराज़

हो गए थे, और खुद बलबीर सिंह के मुँह से बदला लेने की बात सुनी गई थी। इस दलील का ज़िक्र करते हुए न्यायमूर्ति ओझा ने लिखा कि अगर ब्लू स्टार ऑपरेशन पर गुस्से या विरोध के भाव को अभियुक्त के ख़िलाफ़ सबूत माना जाए, तो उन सभी सिखों को साज़िश में शामिल करना पड़ेगा जो ब्लू स्टार ऑपरेशन पर नाराज़ थे।

न्यायमूर्ति ओझा ने आगे कहा कि बलबीर सिंह को छोड़ देने में गलती करना, उसे सज़ा देने में गलती करने से बेहतर है—“It is safer to err in acquitting than in convicting him.”

इस घटना पर केवल वही टिप्पणी काफ़ी है जो बलबीर सिंह ने कही। उसने कहा —“मुझे न्याय की ज़रा भी उम्मीद नहीं थी, मगर अब मुझे यक़ीन हो गया है कि इस देश में न्याय ज़िंदा है।”

तखरीब (विनाश) नहीं

कोरियन एयर की फ्लाइट संख्या 858 बग़दाद से 29 नवम्बर 1987 को उड़ी। इसे सियोल पहुँचना था। यह अंडमान सागर के ऊपर 37 हज़ार फीट की ऊँचाई पर उड़ रही थी कि अचानक धमाका हुआ और इसके 115 यात्री हवा में ही मारे गए। धमाका इतना तेज था कि पायलट एयरपोर्ट को संकट- संकेत भी नहीं भेज सका, जबकि इसके लिए केवल एक सेकण्ड का समय पर्याप्त था। विमान के विनाश की यह साज़िश उत्तर कोरिया की तरफ़ से रची गई थी। योजना के तहत उत्तर कोरिया की एक 24 साल की महिला को प्रशिक्षित कराकर विमान पर भेजा गया। वह बगदाद से विमान पर सवार हुई और विमान के ऊपर के डिब्बे में टाइम बम रखकर अबू धाबी में उतर गई। यह एक शक्तिशाली टाइम बम था। यह निर्धारित समय पर फटा और पूरा विमान अचानक नष्ट हो गया।

इस योजना का उद्देश्य 1988 के ओलम्पिक को असफल करना था जो दक्षिण कोरिया की राजधानी सियोल में हो रहा था। उत्तर कोरिया की साम्यवादी सरकार को दक्षिण कोरिया का यह गौरव अखरता था। उत्तर कोरिया के तानाशाह किम इल सुंग ने अपनी गुप्त एजेंसी को आदेश दिया कि वे दक्षिण कोरिया के विमान को बम से उड़ा दें ताकि लोगों को वहाँ की यात्रा असुरक्षित लगे और वे ओलम्पिक में भाग लेने का विचार छोड़ दें। इस विनाशकारी उद्देश्य के तहत उस विमान को नष्ट कर दिया गया।

दक्षिण कोरियाई विमान को नष्ट करना बहुत ही घृणित अपराध था। मगर यह आतंकवादी कार्रवाई पूरी तरह विफल साबित हुई। किसी भी देश ने इससे डरकर ओलम्पिक में भाग लेना बंद नहीं किया। इसके विपरीत, 161 देशों ने घोषणा की कि वे इसमें भाग लेंगे, जो किसी भी पूर्व ओलम्पिक मुक़ाबले में भाग लेने वालों की संख्या से अधिक है।

> The destruction of KAL 858 was a monstrous crime, but as an act of terrorism it proved to be monumental failure. No country was frightened away from the Olympics. On the country,161 countries have announced they will attend, more than at any previous Games. (*Reader's Digest*, August 1988)

किसी के खिलाफ़ विनाश करना दरअसल अपने ही ख़िलाफ़ विनाश करना है। ऐसा व्यक्ति केवल अपना नुक़सान करता है; वह किसी और को वास्तविक रूप से नुक़सान नहीं पहुँचाता।

शब्द या सच्चाई

रवींद्रनाथ टैगोर (1861–1941) को ब्रिटिश सरकार ने 1915 में 'सर' की उपाधि दी थी। 1919 में जब अंग्रेजी सरकार ने अमृतसर में निहत्थे भारतीयों पर बेरहमी से गोलियाँ चलवाईं तो टैगोर ने यह उपाधि वापस कर दी।

डॉक्टर मोहम्मद इक़बाल (1877–1938) को ब्रिटिश सरकार ने 1922 में 'सर' की उपाधि दी। इक़बाल ने इसे स्वीकार कर लिया और फिर कभी वापस नहीं किया।

लेखक व्यक्तिगत रूप से 'सर' की उपाधि लेने को गलत नहीं मानता, लेकिन इक़बाल की कविताओं में जो बातें हैं, उनके हिसाब से अंग्रेजी सरकार की दी हुई यह उपाधि उनके लिए बिल्कुल अनुपयुक्त थी। उदाहरण के लिए उनका यह शेर है—

नहीं तेरा नशेमन क़सर-ए-सुल्तानी के गुम्बद पर,
तू शाहीं है बसेरा कर पहाड़ों की चटानों में।

इक़बाल के अपने मानक के अनुसार 'सर' की उपाधि स्वीकार करना 'क़सर-ए-सुल्तानी' के गुम्बद पर घोंसला बनाने के समान था। मगर दूसरों को तो वे ऐसी नशेमन-साज़ी से बचने की सीख देते रहे, पर खुद आख़िरी वक़्त तक क़सर-ए-सुल्तानी के गुम्बद पर अपना नशेमन बनाए रहे।

यह एक मिसाल है जो दिखाती है कि आधुनिक युग में मुसलमानों के बीच जो नेता उठे, उनकी स्थिति क्या थी। इस युग के लगभग सभी मुस्लिम नेता मूलतः या तो कवि थे जैसे इक़बाल, या वक्ता जैसे मोहम्मद अली, या लेखक जैसे अबुल आला मौदूदी। वे विचारक और परिपक्व दृष्टि वाले नहीं थे, जैसे कि किसी सच्चे नेता को होना चाहिए। कविता, भाषण और लेखन वास्तव में शब्दों की सजावट के अन्य रूप हैं। इसलिए ये सब नेता शब्दों के जादू दिखाते रहे, लेकिन जीवन की सच्चाइयों के अनुसार मुसलमानों को सही मार्गदर्शन नहीं दे सके। इस काल्पनिक नेतृत्व का परिणाम यह हुआ कि नेताओं की अपनी शख्सियत तो बन गई, लेकिन पूरी क़ौम का मामला बर्बाद हो गया। हवा में जादू दिखाने वाला व्यक्ति स्वयं अखबारों की सुर्खियों में तो जगह पा सकता है, लेकिन ऐसे जादू से किसी क़ौम का भविष्य नहीं बनता।

बड़ी चिंता

डॉ. डेनिस ब्रेओ (Dennis Breo) ने उन डॉक्टरों से मुलाक़ात की और उनका इंटरव्यू लिया जो मशहूर हस्तियों के निजी चिकित्सक रह चुके थे। इसके बाद उन्होंने एक किताब प्रकाशित की जिसका नाम है “एक्स्ट्राऑर्डिनरी केयर” (Extraordinary Care)।

इस किताब में लेखक ने कई अजीब खुलासे किए हैं। उन्होंने लिखा है कि मशहूर व्यक्ति अक्सर “असंभव मरीज़” (impossible patients) साबित होते हैं। उदाहरण के तौर पर, हिटलर को एक त्वचा रोग था, मगर उसे यह अपनी शान के खिलाफ लगा कि डॉक्टर के सामने कपड़े उतारे, इसलिए उसका इलाज ठीक से नहीं हो सका। मशहूर अमेरिकी अमीर हॉवर्ड ह्यूज़ (Howard Hughes) का दांत खराब था, लेकिन उसने कभी डॉक्टर के सामने अपना मुँह नहीं खोला। उसने दर्द भुलाने के लिए शराब पीना ही पसंद किया।

ईरान के राजा के बारे में लेखक लिखते हैं कि उन्हें रक्त रोग (Leukaemia) था, लेकिन उन्होंने इसका इलाज कराने से इनकार कर दिया क्योंकि उन्हें लगा कि इससे वे राजनीतिक रूप से कमज़ोर पड़ जाएंगे।

> “The Shah of Iran refused to be treated for his Leukaemia because he felt it would weaken him politically.” (*The Times of India*, 19 मार्च 1987, पृष्ठ 7)

शाह ए ईरान ने रक्त रोग को अपनी हुकूमत के लिए ख़तरा समझा, जबकि बाद की घटनाओं ने दिखाया कि असली ख़तरा राजनीतिक भ्रष्टाचार था। उनके शासन का अंत रक्त रोग से नहीं बल्कि राजनीतिक अव्यवस्था से हुआ। वे बड़े ख़तरे से बेख़बर रहे और अपनी सारी तवज्जह छोटे ख़तरों पर लगाए रखी। नतीजा यह हुआ कि जब उन्हें लगा कि वे अपनी हुकूमत को बचाने में सफल हो गए हैं, उसी समय उनकी सत्ता खत्म हो गई।

छोटे अंदेशों की चिंता करना और बड़े अंदेशों से गाफ़िल रहना, यही अक्सर इंसानों की नाकामी का सबसे बड़ा कारण होता है—चाहे वे मशहूर हों या गुमनाम।

समय के बाद

मिस्टर जाँ बेदेल बोकासा (Jean Bedel Bokassa) का जन्म 1921 में हुआ। वे सेंट्रल अफ्रीक़ा की सेना में जनरल थे। लेकिन वे अपने पद से संतुष्ट नहीं थे। जनवरी 1966 में उन्होंने सैनिक विद्रोह किया और राष्ट्रपति डेविड डैको (David Dacko) को हटा कर खुद सेंट्रल अफ्रीका के राष्ट्रपति बन गए। जनरल बोकासा राष्ट्रपति बनने पर भी संतुष्ट नहीं हुए, क्योंकि उन्हें डर था कि अगले चुनाव में वे अपनी कुर्सी खो देंगे। इसलिए 1976 में उन्होंने संसद भंग कर दी और खुद को सम्राट घोषित कर दिया। उन्होंने ताज पहन लिया और "सम्राट बोकासा" कहलाने लगे। लेकिन समस्या फिर भी खत्म नहीं हुई। अब सम्राट बोकासा का सामना उस चीज़ से था जिसे एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका (3/1100) ने फ्रांस द्वारा किए गए आर्थिक नियंत्रण की सच्चाइयाँ (Realities of French economic control) कहा है।

सेंट्रल अफ्रीका की कीमती खदानें फ्रांस के नियंत्रण में थीं। नए राजनीतिक ढांचे में फ्रांस को अपना आर्थिक हित खतरे में नज़र आया। इसलिए फ्रांस की मदद से 1980 में एक और सैन्य क्रांति हुई और डेविड डैको को फिर से सेंट्रल अफ्रीका का राष्ट्रपति बना दिया गया। जून 1987 में बोकासा को फांसी दे दी गई।

क्रांति के बाद मिस्टर बोकासा देश से भागने में सफल हो गए थे। अक्टूबर 1986 में वे सेंट्रल अफ्रीका लौटे, लेकिन देश में प्रवेश करते ही गिरफ्तार कर लिए गए (इंडियन एक्सप्रेस, 9 जून 1987)। उन पर कई गंभीर आरोप थे, जैसे 40 लोगों की हत्या करवाना, सरकारी खज़ाने से करोड़ों डॉलर रिश्वत में देना आदि। राज्य

अभियोजक मिस्टर गेब्रियल म्बोदू (Gabriel Mboudou) ने बैंगुई (Bangui) की आपराधिक अदालत से कहा कि मिस्टर बोकासा ने अपने 14 साल के शासन में जो अपराध किए हैं, उनके बाद उन्हें मृत्यु दंड दिया जाना आवश्यक है। 8 जून 1987 को जब मिस्टर बोकासा अदालत में पेश हुए तो उन्होंने कहा: “आज मैं सिर्फ यह चाहता हूँ कि एक साधारण नागरिक के रूप में शांति से जीवन बिताऊँ।”

> Today, I only want to live in peace as a simple citizen.

अगर इंसान संतोष का रास्ता अपनाए, तो वह कभी अपमान और असफलता से दो-चार नहीं होता।

चर्चिल का इक़रार (स्वीकारोक्ति)

सर विंस्टन चर्चिल (1874–1965) इंग्लैंड के बहुत मशहूर राजनेता थे। वे 1940 से 1945 तक ब्रिटेन के प्रधानमंत्री रहे। पश्चिमी इतिहासकार उनके बारे में लिखते हैं कि उन्होंने दूसरे विश्वयुद्ध में ब्रिटेन को हार के कगार से निकालकर जीत तक पहुँचाया:

> He led Britain from near defeat to victory in World War II.

चर्चिल युद्ध के नेता थे, शांति के नहीं। ब्रिटेन के लोगों की राजनीतिक समझदारी इस बात से झलकती है कि युद्ध खत्म होते ही जब आम चुनाव हुए, तो उन्होंने अपने युद्ध नायक को वोट नहीं दिया, क्योंकि वे समझते थे कि देश के पुनर्निर्माण के लिए चर्चिल उपयुक्त नहीं हैं।

चर्चिल के स्वभाव में कई अजीब बातें थीं। उनकी एक विशेषता का ज़िक्र

श्रीमती विजया लक्ष्मी पंडित ने अपनी आत्मकथा में इस तरह किया है—

> भारत की आज़ादी की माँग पर चर्चिल ने कहा था कि वे ब्रिटिश साम्राज्य के प्रधानमंत्री इसीलिए नहीं बने हैं कि उसके अंत के समारोह की अध्यक्षता करें। यह बात तो हैरान करने वाली नहीं थी कि हम उन्हें पसंद नहीं करते थे, बल्कि हैरानी की बात यह थी कि अंत में जब वे मेरे भाई (जवाहरलाल नेहरू) से मिले, जब अंतरिम सरकार बन चुकी थी, तो दोनों ने एक-दूसरे के प्रति स्नेह और सम्मान दिखाया और खुलकर बातचीत की।

जाते समय चर्चिल ने नेहरू से कहा, “मैं तुम्हें बधाई देना चाहता हूँ कि तुमने इंसान के दो सबसे बड़े दुश्मनों पर विजय पा ली है—नफ़रत और डर।”

> He was the man who had announced that he had not become His Majesty’s first minister to preside over the liquidation of His Majesty’s empire. It was not surprising that we did not love him. What was surprising was that when he finally met my brother after the interim government’s formation, they liked each other and could talk freely. When they parted, Sir Winston paid Bhai a handsome tribute:’’ I want to say that you have conquered two of man’s greatest enemies---hate and fear.’’
>
> (Vijai Lakshmi Pandit, *The Scope of Happiness*)

कितना मुश्किल कितना आसान

एक सज्जन से मुलाकात हुई। उनके पास विश्वविद्यालय की एक बड़ी डिग्री थी। बातचीत के दौरान उन्होंने कहा, “मौलाना साहब, आप अंग्रेज़ी पत्रिका

निकालते हैं, लेकिन आपकी पत्रिका की अंग्रेज़ी गलत होती है।" मैंने कहा, "आप ज़रा कोई उदाहरण दीजिए।" उस समय उनके हाथ में अल-रिसाला का मई 1986 का अंक था। इस अंक के टाइटल के पिछले पृष्ठ पर एक अंग्रेज़ी लेख छपा था (यह लेख अल-रिसाला में उर्दू और अंग्रेज़ी दोनों में छपा है)। वह अंग्रेज़ी लेख यह था:

> To spread the word of God is the highest form of charity. It appeals to the mind, the heart, the soul. That being the earnest endeavour of this magazine, how noble-spirited it would be of you, dear readers, if you sent it on regularly to friends and relatives. Make a gift of it. Think of a whole year's subscription as being both a delightful present and a contribution to a worthy cause.

उन सज्जन ने इस लेख की चौथी पंक्ति में sent शब्द पर निशान लगाकर कहा, "देखिए, यह गलत है। यहाँ if you send होना चाहिए, न कि if you sent जैसा आपने लिखा है।" लेकिन जो लोग अंग्रेज़ी भाषा से भलीभाँति परिचित हैं, वे जानते हैं कि यह आपत्ति सही नहीं है।

मैंने उत्तर दिया, "माफ कीजिए, आपने यह बात सिर्फ़ आपत्ति करने के जोश में कही है, ज्ञान के आधार पर नहीं। आपने अपनी इस आपत्ति की जाँच के लिए व्याकरण (grammar) का अध्ययन नहीं किया, वरना आप यह बात कभी न कहते।"

मैंने स्पष्ट किया कि यहाँ मुख्य वाक्य (principal clause) में would (दूसरा रूप) का प्रयोग हुआ है, इसलिए उपवाक्य (subordinate clause) में भी sent (दूसरा रूप) का प्रयोग किया जाएगा। यही अंग्रेज़ी व्याकरण (ग्रामर) का नियम है:

> The form 'sent' is grammatically necessitated by the use of the word 'would' in the principal clause of the sentence. The other possible alternative would be 'could send' but not 'send'.

मेरे इस उत्तर के बाद वे सज्जन चुप हो गए। लेकिन उन्होंने ज़ुबान से अपनी गलती नहीं मानी। दूसरे को कहना कि "तुम ग़लत हो"—कितना आसान है, और अपने बारे में कहना कि "मैं ग़लत हूँ"—कितना मुश्किल।

स्वीकृति

सैयद मुश्ताक अली क्रिकेट के एक बेहद मशहूर खिलाड़ी हैं। शरद वर्मा ने उनका एक इंटरव्यू लिया, जो हिंदुस्तान टाइम्स (15 मई 1987) में प्रकाशित हुआ। वे लिखते हैं कि भारतीय क्रिकेट के इतिहास में बहुत कम लोगों ने वह असाधारण स्थान हासिल किया है, जो सैयद मुश्ताक अली ने किया। लगभग 20 वर्षों तक वे क्रिकेट के हीरो बने रहे।

उनके बारे में सर नेविल कार्डस (Sir Neville Cardus) ने कहा था कि मुश्ताक एक "बाज़ीगर" हैं, जो नामुमकिन को मुमकिन बनाकर सफलता हासिल कर सकते हैं। इसी तरह कीथ मिलर (Keith Miller) ने कहा कि वे हमारे समय के अविश्वसनीय रूप से बेहतरीन खिलाड़ी हैं।

सैयद मुश्ताक अली की शोहरत 1930 में शुरू हुई, जब उनकी उम्र सिर्फ 16 वर्ष थी। वे भले ही कम खेलते थे, लेकिन जब भी खेलते थे, उनका प्रदर्शन सबसे उत्कृष्ट होता था।

1945-46 में कोलकाता में ऑस्ट्रेलिया और भारत की टीमों के बीच मुकाबला हुआ था। सैयद मुश्ताक अली को भारतीय टीम से बाहर कर दिया गया। इस पर कोलकाता में जबरदस्त प्रदर्शन हुए और हर तरफ़ यह नारा गूंज उठा:

"No Mushtaq, No Test"
(मुश्ताक नहीं, तो टेस्ट नहीं)

आखिरकार आयोजकों को सैयद मुश्ताक अली को टीम में शामिल करना पड़ा।

अब सैयद मुश्ताक अली की उम्र 72 साल हो चुकी है। शरद वर्मा से अपने अनुभव बताते हुए उन्होंने कहा कि एक बार इंग्लैंड में भारत और इंग्लैंड की टीमों का मुकाबला था। इंग्लैंड टीम के कप्तान वॉली हैमंड (Wally Hammond) थे। सैयद मुश्ताक अली ने रन बनाना शुरू किए और 90 से आगे बढ़ गए।

हालांकि वॉली हैमंड विरोधी टीम के कप्तान थे, फिर भी वे अपनी स्वीकृति (Acceptance) के जज़्बे को रोक न सके। उन्होंने तेज़ी से आकर मुश्ताक अली का कंधा थपथपाया और कहा:

> "Steady, my boy, steady, get your hundred first."
> (जमे रहो, मेरे बेटे, जमे रहो, अपना शतक पूरा करो।)

"मुर्दा इंसान" की सबसे बड़ी पहचान होती है "स्वीकृति का अभाव" और "जिंदा इंसान" की सबसे बड़ी पहचान होती है "स्वीकृति"।

जिंदा इंसान जब किसी सच्चाई या खूबी को देखता है, तो वह उसको स्वीकार किए बिना नहीं रह सकता, भले ही यह स्वीकृति अपनी हार मानने के बराबर ही क्यों न हो।

हौसला

दिल्ली की एक कॉलोनी 'वसंत विहार' में एक महिला, कमला देवी अग्रवाल अपने बेटे और पोते के साथ रहती थीं। उनकी उम्र 99 साल हो चुकी थी और बुढ़ापे की वजह से वे ज़्यादातर समय बिस्तर पर ही रहती थीं।

15 दिसंबर 1988 को एक हादसा हुआ। उनके घर के पिछले दरवाज़े को किसी तरह खोलकर तीन चोर अंदर घुस आए। घर के लोग जाग गए, इसलिए चोर अपने मक़सद में ज़्यादा कामयाब नहीं हो सके। फिर भी वे कमला देवी के कमरे से नकद और सामान मिलाकर लगभग दस हज़ार रुपए की चीजें लेकर भाग गए।

चोरों ने कमला देवी को हाथ नहीं लगाया और न उन्हें चोट पहुँचाई। लेकिन सुबह जब लोग उनके कमरे में गए तो वे मृत पाई गईं। टाइम्स ऑफ़ इंडिया (16 दिसंबर 1988) की रिपोर्ट के अनुसार —

> "She took one look at the robbers and died of shock."
>
> (उन्होंने चोरों की ओर एक नज़र देखा और सदमे से तुरंत मर गईं।)

उस घर में कमला देवी के साथ उनका बेटा और पोता भी था। मगर चोरों को देखकर न बेटे की मौत हुई, न पोते की—सिर्फ़ बूढ़ी कमला देवी की अचानक जान चली गई। इन तीनों के बीच आख़िर ऐसा क्या अंतर था कि परिणाम में इतना फर्क आ गया? यह फर्क हिम्मत का था। बेटे और पोते में हिम्मत थी, वे झटके को सह गए, इसलिए बच गए। लेकिन बूढ़ी कमला देवी के भीतर अब सहने की ताकत नहीं थी। उन्होंने चोरों को देखा और तुरंत दम तोड़ दिया।

यह दुनिया हादसों की दुनिया है। यहाँ हमेशा अप्रत्याशित और कठिन हालात आते रहते हैं। ऐसी स्थिति में इस दुनिया में वही व्यक्ति सफल हो सकता है जो हिम्मत वाला हो—जो मुश्किल हालात के सामने टिक सके। जिस इंसान में यह ताक़त न हो, उसका अंजाम वही होता है जो इस बूढ़ी औरत का हुआ।

हौसला इंसान की सबसे बड़ी ताक़त है—यह कमज़ोर को मज़बूत बना देता है, और अगर हौसला न हो तो मज़बूत भी कमज़ोर और पराजित हो जाता है।

अपने ख़िलाफ़

आधुनिक वैज्ञानिक युग में जो नए हथियार बनाए गए, उन में से एक था ज़हरीली गैसों को संग्रह करके उनके "बम" बनाना ताकि उन्हें दुश्मन पर छोड़ कर उन्हें नष्ट किया जा सके। पर अब इस तरह की ज़हरीली गैसों के भंडार नष्ट किए जा रहे

हैं, क्योंकि अनुभव से पता चला कि ये स्वयं क़ब्ज़ा करने वाले देश के लिए भी बहुत बड़ा ख़तरा हैं। अमेरिका की एक ख़बर (Times of India, 24 जनवरी 1989) में बताया गया कि वर्षों के अध्ययन के बाद अमरीकी सेना ने फैसला किया है कि वह अपने 69,453 जर्जर, कभी-कभी रिसाव करने वाले रॉकेटों को नष्ट कर देगी

जिनमें घातक नर्व गैस भरी हुई है और जो अब रिचमंड, केन्टकी में संग्रहीत हैं। इसके लिए उस डिपो पर एक विशेष प्रकार का भट्टा बनाया जाएगा। ऐसे समान रॉकेट सात अन्य डिपो में भी हैं। उन्हें भी इन्सिनरेटरों में जला कर नष्ट किया जाएगा। इन ज़हरीली गैस के हथियारों के बारे में अब यह स्वीकार कर लिया गया है कि वे मालिक के लिए उतना ही बड़ा खतरा हैं जितना संभावित शत्रु के लिए। यदि उन्हें बहुत लंबे समय तक रखा जाए तो वे अपने आप भड़क सकते हैं, इससे एक गंधहीन, अदृश्य धुंध की तरह का पदार्थ फैल सकता है, जो अपने मार्ग में जो कुछ भी होगा सबको नष्ट कर देगा।

> After years of study, the U.S. Army has decided to destroy 69,453 aging, sometimes leaking rockets filled with deadly nerve gas, which are now stored in Richmond, Kentucky. It will build a special furnace at the depot to destroy them. There are similar rockets in seven other depots. They too will be burnt in incinerators. These poison gas weapons are now acknowledged to be as much a threat to the possessor as to the potential enemy. If kept too long, they could ignite spontaneously, releasing an odourless, invisible mist that would kill everything in their path.

यह एक निशानी है जो बताती है कि दूसरों के खिलाफ़ किया गया विनाशकारी कार्य ख़ुद अपने लिए ही विनाशकारी हो जाता है। कोई भी व्यक्ति एक बार

तबाही का तरीक़ा अपनाकर अपने आप को उसके बुरे नतीजों से बचा नहीं सकता, चाहे उसके पास दुनिया की सबसे बड़ी ताक़त ही क्यों न हो और चाहे उसने अपना तबाही का कार्यक्रम उच्चतम वैज्ञानिक स्तर पर ही क्यों न तैयार किया हो।

ऊँची सोच

टोक्यो के एक प्रकाशन संस्थान ने 160 पृष्ठों की एक पुस्तक प्रकाशित की है। यह पुस्तक जापानी समाज और जापानी व्यक्तित्व के स्वभाव का परिचय देती है। पुस्तक का नाम है:

Chie Nakane, *Japanese Society* (1987)

इस पुस्तक की लेखिका ची नाकाने हैं, जो टोक्यो विश्वविद्यालय में सामाजिक मानवशास्त्र (Social Anthropology) की प्रोफेसर हैं। उन्होंने विस्तार से बताया है कि जापानी लोगों की मानसिकता कैसी होती है। उनके अनुसार, जापानी व्यक्ति की मानसिकता को संक्षेप में इस तरह व्यक्त किया जा सकता है:

> "The constant desire to rise a little higher than the average."
>
> (औसत से ऊपर उठने की निरंतर इच्छा।)

लेखिका के अनुसार, यही जापानी लोगों का जीवन-दर्शन है। वे इसे धार्मिक शिक्षा की तरह पवित्र मानते हैं और निरंतर इस पर अमल करते हैं।

ज़िंदगी में ठहराव नहीं होता। व्यक्ति या तो ऊपर उठता है या नीचे गिरता है। यह सिद्धांत इतना स्पष्ट है कि अगर आप खुद को ऊपर नहीं उठाते, तो आप स्वतः ही नीचे गिरने लगते हैं। नीचे गिरने के लिए किसी अतिरिक्त प्रयास की आवश्यकता नहीं होती।

यह सिद्धांत धार्मिक और सांसारिक दोनों मामलों में समान रूप से सत्य है। धार्मिक दृष्टिकोण से सच्चा ईमान वाला वही है जिसका ईमान निरंतर बढ़ता रहे। जिस व्यक्ति के ईमान में बढ़ोतरी रुक जाती है, वह ईमान की गिरावट की ओर बढ़ने लगता है। यहां किसी एक स्थिति में रुकना संभव नहीं है।

यही मामला दुनिया का है। दुनियावी मामलों में भी व्यक्ति को निरंतर विकास की ओर बढ़ते रहना चाहिए। जो व्यक्ति विकास की यात्रा नहीं करता, वह पहले ठहराव (Stagnation) का शिकार हो जाता है और फिर धीरे-धीरे समाप्त हो जाता है—हमेशा अपने विकास की चिंता करें।

विकास की चिंता न करना, अपने आपको मृत्यु के हवाले करने के समान है।

जरूरी तैयारी

गांधी जी की ज़िंदगी पर एक फिल्म बनाई गई है जो "गांधी" नाम से बहुत मशहूर हो चुकी है। इस फिल्म में गांधी जी का किरदार एक ब्रिटिश अभिनेता किंग्सले (Kingsley) ने निभाया था।

किंग्सले ने खुद को गाँधी के रूप में ढालने के लिए असाधारण मेहनत की। किंग्सले का असली जीवन बहुत राजसी था। उनकी मेज़ पर पहले के समय के पारंपरिक राजा या नवाब की मेज़ से भी ज़्यादा खाने-पीने की चीजें रहती थीं। मगर गाँधी का किरदार निभाने के लिए उन्होंने लंबे समय तक अर्द्ध उपवास की जीवनशैली अपनाई।

किंग्सले एक मोटे बदन वाले आदमी थे, जबकि गाँधी जी दुबले-पतले इंसान थे जो छड़ी लेकर चलते थे। अभिनय की मांग थी कि जब किंग्सले पर्दे पर आएँ तो वे लोगों को दुबले-पतले गाँधी जैसे ही दिखें। इसलिए उन्होंने लगातार भूखे रहकर और बहुत कम खाना खाकर खुद को पतला किया। यहाँ तक कि उनका

वजन 7 किलोग्राम तक कम हो गया। यह कठिन परिश्रम उस मराठी महिला को भी करना पड़ा जिसने फिल्म में गाँधी की पत्नी कस्तूरबा का रोल निभाया।

फिल्म में किसी काल्पनिक किरदार को निभाना जितना कठिन है, उससे कहीं अधिक कठिन यह है कि कोई इंसान असली ज़िन्दगी में किसी राष्ट्र का नेतृत्व करने की भूमिका निभाए। पर कितना अजीब है कि राष्ट्रीय नेतृत्व के क्षेत्र में लोग इस तरह कूद पड़ते हैं जैसे यहाँ किसी तैयारी की ज़रूरत ही न हो।

राष्ट्र का नेतृत्व निस्संदेह सभी कामों से अधिक कठिन काम है। फिल्म में अपना किरदार निभाने के लिए किंग्सले को अपने शरीर को बदलना पड़ा था; राष्ट्र का नेता बनने के लिए इंसान को अपने नफ़्स को मारना पड़ता है। पहले काम में अभिनेता को अपने शरीर की मोटाई घटानी पड़ती है; दूसरे काम के लायक़ बनने के लिए एक नेता को अपने अंदर की अकड़ घटानी पड़ती है, आदि ।

जो लोग इस ज़रूरी तैयारी के बिना राष्ट्र के नेतृत्व के मैदान में क़दम रखते हैं, वे राष्ट्र के नेता नहीं बल्कि राष्ट्र के अपराधी हैं।

व्यापारिक सफलता

अमेरिका के व्यापारी अपने कारोबार को बढ़ाने के लिए हर तरह की सोची-समझी और अनदेखी तरकीबें अपनाते हैं। अमेरिका में जरूरत की लगभग हर चीज़ किश्तों पर मिल जाती है। चाहे वैक्यूम क्लीनर हो या कई एकड़ में फैली शानदार इमारत, मोटर कार हो या जेट विमान, सब कुछ आसान किस्तों पर हासिल किया जा सकता है। यहां तक कि अमेरिकियों के बीच यह कहावत मशहूर है कि अगर आपके पास किस्तें चुकाने की क्षमता है तो आप अमेरिका को भी खरीद सकते हैं, बशर्ते वह बिक रहा हो।

अमेरिका के व्यापारिक संस्थानों की एक बहुत महत्वपूर्ण विशेषता है जिसे ग्राहक-सेवा कहा जाता है। वहां के बड़े-बड़े व्यापारी हर समय इस कोशिश

में रहते हैं कि अपने ग्राहकों को खुश रखें और उन्हें अपने कारोबार से संतुष्ट कर सकें।

इसी ग्राहक-सेवा का एक उदाहरण यह है कि किसी कंपनी की एक शाखा से खरीदा गया सामान अगर खराब निकले या पसंद न आए, तो उसे उसी कंपनी की किसी भी शाखा में, किसी भी शहर में यह कहकर लौटा सकते हैं कि "खरीदने के बाद पसंद नहीं आया।" न कोई झुंझलाहट, न सवाल-जवाब—बस रसीद होनी चाहिए, क़ीमत तुरंत लौटा दी जाती है। "खरीदा हुआ सामान वापस नहीं होगा" जैसी बात अमेरिकी व्यापार में नहीं पाई जाती।

अगर भारत में कुछ लोग ऐसी कोशिश करें कि वे एक लिमिटेड कंपनी या सहकारी संस्था बनाएं और मिलजुलकर पूंजी लगाकर देश के सभी बड़े शहरों में डिपार्टमेंटल स्टोर खोलें, जहां हर तरह का सामान बिके, और यह भरोसा दें कि किसी भी स्टोर से खरीदा गया सामान किसी भी स्टोर में वापस किया जा सकता है, तो ऐसे कारोबार की पूरे भारत में धूम मच जाएगी। निश्चित रूप से वह बहुत बड़ी सफलता पाएगा।

यह व्यापार का क्षेत्र अभी देश में पूरी तरह खाली है। यहां किसी के लिए एकाधिकार तक की सफलता के अवसर मौजूद हैं। लेकिन इस संभावना से वही लोग लाभ उठा सकते हैं जिनमें मेहनत, ईमानदारी और सहयोग की भावना जैसे गुण पाए जाते हों।

सरल उपाय

एक सज्जन ने अपना अनुभव लिखा है। शब्दों की कुछ मामूली तब्दीली के साथ घटना यह है कि वे एक रेगिस्तानी इलाके में गए। वे तांगे पर सफर कर रहे थे कि अचानक आंधी के आसार दिखाई देने लगे। तांगेवाले ने तांगा रोक दिया और कहा कि इस इलाके में बहुत भयानक आंधियां आती हैं, जो इतनी तेज़

होती हैं कि बड़ी-बड़ी चीज़ें उड़ा ले जाती हैं। और अभी जो संकेत दिख रहे हैं, वे बताते हैं कि वैसी ही आंधी आने वाली है। इसलिए आप लोग तांगे से उतरकर अपना ध्यान रखें।

जब आंधी पास आई तो हम एक पेड़ की तरफ बढ़े,ढ़े ताकि उसकी ओट में पनाह ले सकें। तांगेवाले ने यह देखा तो चीख़ पड़ा—उसने कहा कि पेड़ के नीचे हरगिज़ मत जाइए, क्योंकि ऐसी आंधियों में बड़े-बड़े पेड़ गिर जाते हैं। इस मौक़े पर पेड़ के नीचे पनाह लेना बहुत खतरनाक है। उसने कहा कि इस आंधी से बचने का बस एक ही तरीक़ा है—कि आप सब खुली ज़मीन पर उल्टे होकर लेट जाएं। हमने उसकी बात मानी और ज़मीन पर मुंह नीचे करके लेट गए। आंधी आई और बहुत जोर से चली। वह पेड़ों और टीलों तक को उड़ा ले गई, मगर यह सारा तूफ़ान हमारे ऊपर से गुज़र गया। हम ज़मीन की सतह पर सुरक्षित पड़े रहे। कुछ देर बाद, जब आंधी थमी, तो हम उठे और पाया कि तांगेवाले की बात बिल्कुल सही थी। (*ज़िक्रा*, नवम्बर 1989)

आंधियां जब उठती हैं तो उनका ज़ोर हमेशा ऊपर रहता है। ज़मीन की निचली सतह सीधी मार से बची रहती है। यही वजह है कि आंधी में खड़े पेड़ उखड़ जाते हैं, मगर ज़मीन पर फैली घास अपनी जगह पर खड़ी रहती है। ऐसे में आंधी से बचने का सबसे असरदार तरीक़ा यह है कि इंसान अपने को कुछ देर के लिए झुका ले। यही प्रकृति का सबक़ है, जो बताता है कि ज़िंदगी तूफ़ानों से कैसे बचा जाए। इसका आसान तरीक़ा यह है कि जब आंधी उठे तो अपना झंडा कुछ देर को नीचे कर लो—कोई उकसाने वाली बात कहे तो उसके जवाब में कान बंद कर लो, कोई तुम्हारी दीवार पर कीचड़ फेंक दे तो उस पर पानी बहाकर साफ कर दो, कोई तुम्हारे खिलाफ़ नारे लगाए तो उसके लिए दुआ करने लगो।

ज़माने के ख़िलाफ़

टाइम्स ऑफ़ इंडिया (6 जुलाई 1989) में मिस्टर रमन नंदा की एक रिपोर्ट प्रकाशित हुई थी जो प्रधानमंत्री राजीव गांधी के पुत्र राहुल गांधी से संबंधित थी।

राहुल गांधी ने नई दिल्ली के सेंट स्टीफ़न कॉलेज में हिस्ट्री (ऑनर्स) कोर्स में दाखिला लिया है। वे इस विषय के लिए चुने गए 76 छात्रों में से एक हैं। जब राहुल कॉलेज जाते हैं, तो कॉलेज में लगातार सुरक्षा का पहरा रहता है। वे कमांडोज़ (ब्लैक कैट्स) की कड़ी सुरक्षा में कॉलेज जाते और लौटते हैं।

कॉलेज के एक शिक्षक डॉ. एस. सी. भार्गव (भौतिक विज्ञान के प्रोफेसर) को "एक छात्र" का फ़ोन आया कि वह उनसे कुछ सलाह करना चाहता है। उन्होंने छात्र को अपने घर मिलने के लिए बुलाया। जब डॉ. भार्गव समय पर अपने घर पहुंचे, तो देखा कि सुरक्षा कर्मियों ने उनके घर को घेर रखा है। उन्हें अंदर जाने से रोका गया। केवल तब अनुमति दी गई जब उन्होंने साबित किया कि वे वही डॉ. भार्गव हैं जिनसे मिलने वह छात्र आया है।

यह वी.वी.आई.पी छात्र प्रधानमंत्री राजीव गांधी के बेटे राहुल गाँधी थे। रिपोर्ट में बताया गया कि राहुल ने डॉ. भार्गव से यह सलाह मांगी थी कि उन्हें इक़्तिसादियात (अर्थशास्त्र) लेना चाहिए या इतिहास। डॉ. भार्गव ने बताया कि राहुल के अंकों को देखते हुए अर्थशास्त्र के कोर्स में प्रवेश मिलना कठिन होगा, इसलिए उन्हें इतिहास विषय लेना चाहिए।

> "Rahul, who sought Dr. Bhargava's advice on whether he should take up economics or history, was told by the lecturer that considering his percentage, admission to the economics course may be difficult and he should instead opt for history (p. 5)."

जहां शिक्षा के क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा का यह हाल हो कि प्रधानमंत्री के बेटे को भी मेरिट के आधार पर प्रवेश लेना पड़े, वहां रियायती प्रवेश की मांग करना न केवल अजीब है बल्कि असंभव भी।

ज़िंदा या मरा हुआ

गाड़ी के चलने की दो हालतें होती हैं। एक यह कि उसे कोई ड्राइवर चलाए और दूसरी यह कि इंजन चालू करके उसे सड़क पर छोड़ दिया जाए। देखने में दोनों गाड़ियाँ चलती हुई लगेंगी, मगर दोनों में बड़ा फ़र्क है। ड्राइवर वाली गाड़ी मंज़िल तक पहुँचती है, जबकि बिना ड्राइवर की गाड़ी कुछ देर दौड़ने के बाद किसी चीज़ से टकराकर नष्ट हो जाती है।

एक समझदार ड्राइवर जब गाड़ी चलाता है तो रास्ते को देखकर चलाता है। ज़रूरत के हिसाब से कभी रुक जाता है, कभी आगे बढ़ता है, कभी पीछे हटता है। कभी सीधा चलता है और कभी दाएँ या बाएँ मुड़ जाता है। ऐसी गाड़ी ही मंज़िल तक पहुँचती है।

इसके उलट, जो गाड़ी बिना ड्राइवर के दौड़ रही हो, वह बस एक तरफ़ ही दौड़ती जाएगी। उसके पास न दिमाग़ है न समझ। वह न रुकेगी, न पीछे हटेगी, न मुड़ेगी, न धीरे चलेगी। उसका अंजाम यही है कि थोड़ी दूर जाकर किसी चीज़ से टकराकर नष्ट हो जाए।

इस मिसाल से ज़िंदा इंसान और मरे हुए इंसान का फ़र्क समझ में आता है। ज़िंदा इंसान समझदार होता है, जबकि मरा हुआ इंसान बेहोश और बेअक़्ल। ज़िंदा इंसान वक्त के मुताबिक बोलता है और चुप भी हो जाता है। चलता है तो रुकना भी जानता है, आगे बढ़ता है तो हालात देखकर पीछे भी हट जाता है। कभी तेज़ दौड़ता है तो कभी अपनी रफ़्तार धीमी कर लेता है। यही वजह है कि वह आख़िर में कामयाबी तक पहुँच जाता है। इसके उलट, मरा हुआ इंसान वह है जिसमें समझ न हो। जो बोलने के बाद चुप न रह सके, चलने के बाद रुकना न जाने, जो सिर्फ़ अपनी शर्तें मनवाना जाने और दूसरे की बात मानने को तैयार न हो। ऐसा इंसान मरा हुआ इंसान है। खुदा की इस दुनिया में उसका अंजाम बस बर्बादी और तबाही है।

एक आत्महत्या

श्रीमती पदमा देसाई मशहूर उद्योगपति राजाराम किर्लोस्कर की बेटी थीं। उनकी शादी भूतपूर्व प्रधान मंत्री मोरारजी देसाई के बेटे श्री कान्ति देसाई से हुई। इससे अन्दाज़ा किया जा सकता है कि उनकी हैसियत क्या थी। मगर 16 नवम्बर 1984 को उन्होंने अपनी पांचवीं मंज़िल के फ़्लैट से कूद कर ख़ुदकशी कर ली। उस वक़्त उनकी उम्र 51 साल थी। नीचे गिरने के फ़ौरन बाद वह अस्पताल ले जाई गईं। मगर डाक्टरों ने देख कर बताया कि वह अस्पताल पहुंचने से पहले मर चुकी हैं।

उन्होंने आत्महत्या क्यों की, इसकी वजह ख़बर में इन लफ़्ज़ों में बताई गई है:

> Padma committed suicide after hearing that the family had lost a case in the Supreme Court to retain their flat.
>
> पदमा ने यह ख़बर सुनने के बाद आत्महत्या कर ली कि उनका ख़ानदान अपने फ़्लैट को क़ब्ज़े में रखने का केस सुप्रीम कोर्ट में हार गया है (*हिन्दुस्तान टाइम्स*, *टाइम्स आफ़ इंडिया*, 17 नवम्बर 1984)।

1977 में जनता पार्टी की कामयाबी के बाद मोरारजी देसाई प्रधानमंत्री बने। प्रधान मंत्री बनने के ढाई साल के भीतर उनके बेटे शान्ति देसाई ने कई लेन-देन किए। उनमें से एक यह फ़्लैट भी था। मैरिन ड्राईव (बम्बई) में एक बड़ी बिल्डिंग जिसका नाम ओशियाना (Oceana) है। उसकी पांचवी मंज़िल पर यह फ़्लैट था। जनता सरकार के ख़त्म होने के बाद अदालत में यह केस चला कि कान्ति देसाई ने यह फ़्लैट ग़ैर कानूनी तौर पर हासिल किया था। अदालत ने इसके पक्ष में फ़ैसला दिया। श्रीमती पदमा देसाई को इस फ़ैसले की ख़बर टेलीफ़ोन से मिली। उसके बाद उन्होंने छलांग लगा कर आत्महत्या कर ली।

पदमा देसाई ने समझा कि वह आत्महत्या करके हमेशा के लिए अदालत के फ़ैसले से छुटकारा पा रही हैं। लेकिन अगर उन्हें मालूम होता कि वह आत्महत्या करके अपने को ज़्यादा बड़ी अदालत में पहुंचा रही हैं, जहां आत्महत्या करने का भी मौक़ा उनके लिए बाक़ी न रहेगा तो उनका फ़ैसला कुछ और होता।

आदमी की सबसे बड़ी कमज़ोरी जल्दबाज़ी है। वह फ़ौरी तौर पर एक सख़्त क़दम उठा लेता है, हालांकि अगर वह सोचे तो कभी ऐसा नहीं करेगा।

ज़िन्दगी का राज़

बिल काज़बी एक अफ्रीकी मूल के अमेरिकी नागरिक है। वह 1937 में एक ग़रीब ख़ानदान में पैदा हुआ। शुरू में वह मुश्किल से एक हज़ार डालर सालाना कमाता था। आज उसकी सालाना आमदनी कई मिलियन डालर तक पहुंच चुकी है। गोरे अमेरिका में एक काले शख़्स को यह ग़ैर-मामूली कामयाबी कैसे हासिल हुई? जवाब यह है कि तालीम और सूझबूझ भरी जिद्दोजहद के ज़रिए। बिल काज़बी फ़्लाडालफ़िया के एक स्कूल में पांचवीं ग्रेड में था। वह स्कूल में अक्सर तमाशे किया करता था और पढ़ाई पर ज़्यादा ध्यान नहीं देता था। उसकी टीचर मिस नैजल (Miss Nagle) ने एक दिन उससे कहा कि अगर तुम जौकर बनना चाहते हो तब भी तुम्हे ऊंची तालीम हासिल करनी चाहिए। तालीम के बग़ैर तुम किसी भी मैदान में तरक़्क़ी नहीं कर सकते (स्पान, जनवरी 1987)।

बिल काज़बी ने इस नसीहत को पकड़ लिया। उसने पढ़ाई में मेहनत शुरू कर दी। यहां तक कि उसने एजूकेशन में डाक्टरेट कर लिया। उसके बाद उसने तफ़रीही प्रोग्रामों में हिस्सा लेना शुरू किया।

आख़िरकार उसको टेलीविज़न प्रोग्राम मिलने लगे। आज वह अमेरिका का सबसे मशहूर कामेडियन (comedian) है। बिल काज़बी शो (Bill Cosby

Show) अमरीकी टेलीविज़न का सबसे महंगा प्रोग्राम होता है। दूसरे बहुत से अमरीकियों के उलट उसने नस्ली भेदभाव की बातें करने से परहेज़ किया। उसने अपनी कहानियां वैश्विक घटनाओं पर बनाईं जो तमाम लोगों के लिए समझने में आसान हो सकें:

> Unlike many other black comedians, he avoided racial nuances and drew his stories from universal experiences that could be understood by all. *Span*, January 1987.

अमरीकी लोग आमतौर पर काले लोगों को पसंद नहीं करते। मगर वे बिल काज़बी के प्रोग्राम को निहायत शौक़ के साथ देखते हैं। बिल काज़बी ने गोरे लोगों की रिआयत की तो गोरे लोगों ने भी बिल काज़बी की रिआयत करना शुरू कर दिया। अगर आप चाहते हैं कि दूसरे आप में दिलचस्पी लें तो आप भी दूसरों में दिलचस्पी लेना शुरू कर दीजिए। और इसके बाद आपको किसी से शिकायत नहीं होगी।

इंसान की महानता

स्टीफ़न हॉकिंग 1942 में अमेरिका में पैदा हुआ। एम.एस.सी. करने के बाद वह पी-एच.डी. के लिए रिसर्च कर रहा था कि उस पर एक ख़तरनाक बीमारी का हमला हुआ। अपने हालात बताते हुए उसने लिखा है कि मैं रिसर्च का एक छात्र था। मैं बेहद निराशा के साथ इस इंतिज़ार में था कि मुझे पी-एच.डी. की थीसिस पूरी करनी थी। दो साल पहले डाक्टरों ने बताया था कि मुझे एक जानलेवा बीमारी हो चुकी है और मेरे पास अब ज़िन्दा रहने के लिए सिर्फ़ एक साल या दो साल और हैं। इन हालात में मेरे लिए पी-एच.डी. पर काम करने का ज़्यादा वक़्त नहीं था। क्योंकि मैं इतने समय तक ज़िन्दा रहने की उम्मीद नहीं कर सकता था।

मगर दो साल गुज़रने पर भी मेरा हाल ज़्यादा ख़राब नहीं हुआ था। हक़ीक़त यह है कि मेरी हालत पहले से बेहतर होती जा रही थी:

> I was a research student desperately looking forward to completing my Ph.D. thesis. Two years before, I had been diagnosed as suffering from ALS, commonly known as Lou Gehrig's disease, or motor neuron disease, and given to understand that I had only one or two more years to live. In these circumstances, there did not seem to be much point in working on my Ph.D.— I did not expect to survive that long. Yet two years had gone by, and I was not that much worse. In fact, things were going rather well for me.
>
> Stephen W. Hawking,
> *A Brief History of Time*, p. 53.

डाक्टरों के अन्दाज़े के ख़िलाफ़ स्टीफ़न हॉकिंग ज़िन्दा रहा। उसने अपनी तालीम मुकम्मल की। उसने अपनी मेहनत से इतनी योग्यता पैदा की कि कहा जाता है कि वह आइन्सटाइन के बाद सबसे बड़ा भौतिक वैज्ञानिक है। आज वह कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी में गणित का प्रोफ़ेसर है। यह वह कुर्सी है जो अब तक सिर्फ बड़े वैज्ञानिकों को दी जाती रही है। उसकी सिर्फ़ एक किताब (ए ब्रीफ़ हिस्ट्री ऑफ़ टाइम) 1988 में छपी तो वह इतनी लोकप्रिय हुई कि पहले ही साल उसके चौदह एडीशन छापे गए।

इंसान की मानसिक क्षमताएं उसकी हर कमज़ोरी की क्षतिपूर्ति हैं। उसकी इच्छा शक्ति हर क़िस्म की रुकावटों पर हावी हो जाती है। वह हर नाकामी के बाद अपने लिए कामयाबी का नया रास्ता निकाल लेता है।

उल्लू का सबक़

उल्लू को आम तौर पर बदक़िस्मती और बेवकूफ़ी की निशानी माना जाता है। बहुत से लोग उसे बेकार समझकर मार डालते हैं। मगर सच्चाई यह है कि अल्लाह की बनाई इस दुनिया में कोई भी चीज़ बेकार नहीं होती। उल्लू हमारी खेती और फ़सलों के लिए बहुत काम का होता है, क्योंकि वह फ़सलों को नुक़सान पहुँचाने वाले कीड़ों को खा जाता है। उल्लू की खुराक वे कीड़े और छोटे जानवर हैं जो इंसानों या खेती को नुक़सान पहुँचाते हैं। इस हिसाब से उल्लू कई इंसानों से अच्छा है, जो अपनी लालच या पद के लिए दूसरों का जीवन छीनते हैं, और लाभदायक चीज़ों को बर्बाद कर के विजयी होना चाहते हैं।

उल्लू की लगभग 130 किस्में जानी गई हैं। उनका वज़न चार औंस से लेकर छह पाउंड तक होता है।) 114 ग्राम से 2 किलो 800 ग्राम तक होते हैं।(उसी हिसाब से उनकी खाने की मात्रा भी अलग-अलग होती है। छोटे उल्लू लगभग सात औंस खाना खाते हैं और बड़े उल्लू दो पाउंड से ज़्यादा तक खा लेते हैं। उल्लू आम तौर पर रात में शिकार करता है। वह बड़े कीड़े, चूहे, छिपकलियाँ, साँप, छोटे खरगोश वगैरह पकड़ता है। ये सब चीज़ें खेती या इंसानों के लिए नुक़सानदेह होती हैं।

उल्लू का शरीर शिकार करने के लिए बहुत अनुकूल है। एक पक्षी विशेषज्ञ के शब्दों में, वह रात में बहुत ही शांत उड़ान (silent flight) भर सकता है। वह अंधेरे में सिर्फ़ आवाज़ से ही कीड़ों या जानवरों की जगह का पता लगा लेता है और फिर तेज़ी और ख़ामोशी से वहाँ पहुँचकर अचानक उन्हें पकड़ कर निगल जाता है। (*हिंदुस्तान टाइम्स*, 9 सितंबर 1989)

अल्लाह की दुनिया में कोई भी चीज़ बेकार नहीं। यहाँ हर चीज़ में कुछ न कुछ समझदारी और काम की बात छिपी है। उल्लू जैसी चीज़ भी अल्लाह की इस दुनिया का एक ज़रूरी हिस्सा है। ऐसे में जो इंसान इस दुनिया में रहकर भी दूसरों के लिए बेकार हो गए हैं, जिनका समाज या दुनिया में कोई फ़ायदा

नहीं है, जो दूसरों को नुक़सान पहुँचाने लगे हैं—ऐसे लोग अल्लाह की नज़रों में उल्लू से भी ज़्यादा बेकार हैं। ऐसे लोगों की ज़रूरत न अल्लाह को है और न इंसानों को।

खोने के बाद भी

एपी (लंदन) की एक रिपोर्ट के अनुसार मिस्टर स्टैनली जॉकी, जो हंगरी में पैदा हुए, एक काले कपड़े पहनने वाला पादरी, ईसाई विद्वान और भौतिकी के प्रोफेसर हैं। उन्होंने कहा कि आवाज़ खो देने के दस साल बाद यही कमी उनके लिए विज्ञान और धर्म पर लिखी गई रचनाओं से दो लाख बीस हजार डॉलर जीतने का ज़रिया बन गई। उन्होंने बताया, “1953 में मेरे गले की सर्जरी के दौरान हुए एक हादसे ने मुझे यह समय दिया कि मैं लिख सकूं और सोच सकूं—और ऐसा हमेशा नहीं होता। बहुत से मशहूर लेखक ऐसे हैं जो सोचते ही नहीं।” मिस्टर जॉकी, जिन्हें धर्म की उन्नति के लिए टेंपलटन पुरस्कार मिला है, का मानना है कि ईसाइयत ने वह मानसिक वातावरण बनाया जिसने विज्ञान को आगे बढ़ने का अवसर दिया। वे इस विचार के कड़े विरोधी हैं कि विज्ञान और खुदा एक-दूसरे से असंबंधित हैं।

> Mr. Stanley L. Jaki, a Hungarian-born Benedictine monk, theologian, and physics professor, says losing his voice for ten years helped him win a $220,000 prize for his writings on science and faith.’’ A surgical mishap on my throat in 1953 gave me time to write and to think, and that’s not always the case. Many writers of best-sellers don’t think at all,’’the scholar said. Mr Jaki who won the Templeton prize for progress in religion, holds that

> Christianity created the intellectual climate which allowed science to flourish. He is a stern critic of the view that science and God are unrelated. (*The Times of India*, New Delhi, May 14, 1987)

मिस्टर जॉकी के साथ एक हादसा हुआ। गलत ऑपरेशन की वजह से उनकी बोलने की क्षमता खत्म हो गई, लेकिन सोचने और पढ़ने की शक्ति बरकरार रही। उन्होंने अपनी इस बची हुई क्षमता का उपयोग किया। दस साल की खामोश मेहनत के बाद उन्होंने एक ऐसी किताब लिखी, जिस पर उन्हें सवा दो लाख डॉलर का इनाम मिला। हादसे के बाद जो लोग खोई हुई चीज़ का ग़म करते रहते हैं, वे अपनी बर्बादी बढ़ा लेते हैं, और जो लोग बची हुई चीज़ पर ध्यान लगा देते हैं, वे फिर से सफलता की मंज़िल पा लेते हैं।

कम समझना

जीवन का अर्थ है अप्रिय बातों को भी प्रसन्नता के साथ स्वीकार करना। थियोडोर रूजवेल्ट (Theodore Roosevelt) ने कहा था कि "जीवन का सामना करने का सबसे खराब तरीक़ा यह है कि उसका सामना तिरस्कार के साथ किया जाए।"

> The poorest way to face life is to face it with a sneer.

असल में इस संसार में कोई भी व्यक्ति अकेला नहीं है। हर व्यक्ति के साथ अनेक लोग भी जीवन का अवसर पाए हुए हैं। अल्लाह अपनी योजना के अनुसार सबको उनकी ज़रूरत की वस्तुएँ देता है—किसी को एक चीज़, किसी को दूसरी और किसी को तीसरी। ऐसी स्थिति में यदि कोई व्यक्ति दूसरों को छोटा या कम समझे, तो वह सही समझ से दूर हो जाता है। फिर वह न तो अपने बारे में सही विचार बना सकता है और न दूसरों के बारे में।

मानव इतिहास का सबसे बड़ा अपराध यह है कि सच्चाई को स्वीकार न करना। हर युग में अच्छे लोग सत्य का संदेश लेकर उठे और लोगों को सच्चाई की ओर बुलाया, पर अधिकतर लोगों ने उन्हें नज़रअंदाज़ किया। इसका सबसे बड़ा कारण यह था कि उन्होंने उन सच्चे लोगों को तुच्छ समझा, केवल इसलिए कि उनके पास धन-दौलत या शोहरत नहीं थी। उन्होंने कहा, "हम किसी छोटे आदमी के आगे क्यों झुकें?"

यही बात राष्ट्रों के व्यवहार पर भी लागू होती है। यदि हम किसी राष्ट्र को छोटा समझें तो उसके प्रति हमारी भावना ग़लत हो जाएगी। हम उसकी अच्छाइयों को भी बुराई समझने लगेंगे, उसकी शक्ति का गलत अनुमान करेंगे और वहाँ विरोध करेंगे जहाँ समझदारी यह थी कि शांत रहा जाए।

दूसरों को कम समझना वास्तव में स्वयं को कम समझना है। अंत में परिणाम यही होता है कि जो व्यक्ति दूसरों को तुच्छ समझता है, वही स्वयं दूसरों की नज़रों में तुच्छ बनकर रह जाता है।

मानसिक एकाग्रता

चार्ल्स डार्विन (1809–1882) आधुनिक समय का बहुत ही मशहूर सोचने वाला व्यक्ति था। भले ही लेखक उसके विचारों से सहमत नहीं है, लेकिन यह सच्चाई है कि आधुनिक युग के इंसान की सोच बनाने में जितना बड़ा हिस्सा डार्विन का है, उतना शायद किसी और का नहीं।

डार्विन ने यह ऊंचा दर्जा अपनी बहुत मेहनत से पाया। एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका (1984) के लेखक ने उसके जीवन के बारे में लिखा है:

> All his mental energy was focused on his subject, and that was why poetry, pictures, and music ceased

in his mature life to afford him the pleasure that they had given him in his earlier days. (भाग 5, पृष्ठ 495)

चार्ल्स डार्विन का पूरा ध्यान अपने काम पर लगा रहता था। इसी वजह से बाद में कविता, चित्रकला और संगीत उसे उतनी ख़ुशी नहीं दे पाए जितनी पहले देते थे। जब इंसान का मन पूरी तरह किसी एक काम में लग जाता है, तो वही बड़ी सफलता पाने की सबसे ज़रूरी बात होती है, चाहे काम सही हो या गलत। जब तक कोई इंसान अपने लक्ष्य में इतना खो न जाए कि बाकी चीज़ें उसे याद ही न रहें, तब तक वह कोई बड़ा काम नहीं कर सकता। सभी महान लोग इसी तरह सफल हुए हैं; इसके अलावा और कोई रास्ता नहीं है जिससे बड़ा काम किया जा सके।

जब कोई इंसान पूरे मन से किसी काम में लग जाता है, तभी उसे उस काम के गहरे रहस्य समझ में आते हैं। तभी वह उस काम के सभी जरूरी पहलुओं पर ध्यान देने योग्य हो जाता है। और अपनी पूरी ताकत अपने लक्ष्य को पाने में लगा देता है। अगर एकाग्रता और लगन न हो, तो कोई बड़ी सफलता नहीं मिलती। ज़्यादातर लोग अपने काम में पूरा मन नहीं लगाते, इसलिए उन्हें बड़ी सफलता नहीं मिलती।

क़ुदरत का फ़ैसला

अगर आप अमेरिका जाएं और वहां से कनाडा की तरफ़ सफ़र करें तो आप देखेंगे कि अमेरिका और कनाडा की सरहद (border) पर दोनों मुल्कों के झंडे एक साथ लहरा रहे हैं। पास ही एक बोर्ड है, जिसके ऊपर बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा हुआ है– एक ही मां की औलादें:

Children of a Common Mother.

यह बात जो अमेरिका और कनाडा की सीमा पर खुले बोर्ड के ऊपर लिखी गई है, यही बात तमाम दूसरे मुल्कों की सरहदों पर 'छुपे हुए बोर्डों' में न दिखाई देने वाले अक्षरों में लिखी हुई है। यह दूसरा बोर्ड वह है जो क़ुदरत की तरफ़ से लगाया गया है। पहला बोर्ड इन्सानी हाथों ने लिखा है, दूसरा बोर्ड स्वयं ख़ुदा के हाथों ने।

मॉलेक्यूलर बायोलॉजी में जो नई खोजें हुई हैं उनसे जैनेटिक सबूतों (genetic evidence) के ज़रिए ख़ालिस साइंस की सतह पर यह साबित हुआ है कि तमाम दुनिया के लोग एक ही महान ख़ानदान (Great family) का हिस्सा हैं। सब एक ही मां-बाप (common ancestor) से ताल्लुक़ रखते हैं (तफ़्सील के लिए देखें मेरी उर्दू किताब, 'तामीर की तरफ़' पेज 28-30)

इस एतबार से देखा जाए तो मालूम होगा के अमेरिका और कनाडा की सरहद पर लगे बोर्ड पर जो बात लिखी हुई है वह प्राकृतिक सच्चाई है। वही मामला तमाम क़ौमों का है जिसका ऐलान अमेरिका और कनाडा ने अपने यहां किया है। स्वाभाविक सच्चाई यही मांग करती है कि हर क़ौम अपने यहां वही अल्फ़ाज़ लिखे जो अमेरिका और कनाडा ने अपने यहां लिख रखा है।

यही मौजूदा दुनिया में इंसान का इम्तिहान है। यहां आदमी को अपने आज़ाद इरादे से वही काम करना है जो क़ुदरत ने लाज़िमी क़ानून के तहत पहले से तय कर दिया है। जो चीज़ क़ुदरत ने अपनी छुपी हुई क़लम से लिखी है, उसे इंसान को अपने हाथ से अपनी ज़िन्दगी के पन्ने पर लिखना है।

क़ुदरत की अपनी योजना के तहत संसार की जो स्कीम (scheme of things) है, हर इंसान को उसके अनुसार अपनी योजना ढाल लेनी चाहिए। क्योंकि क़ुदरत के नक़्शे के साथ तालमेल बनाना ही तामीर और सृजन है, जबकि क़ुदरत के नक़्शे के साथ तालमेल न बनाना नाकामी और बर्बादी है।

सफलता का टिकट

मौजूदा ज़माने में कामयाबी हासिल करने की सबसे ज़्यादा यक़ीनी और विश्वसनीय तदबीर तालीम है। जिन लोगों ने इस राज़ को जान लिया है वे इससे ज़बरदस्त फ़ायदा हासिल कर रहे हैं।

1. अमेरिका में हर साल एक तालीमी मुक़ाबला होता है, जिसमें पूरे मुल्क के छात्र शरीक होते हैं। इसमें अमेरिका के छह टॉप विज्ञान छात्र (Top 6 science students) का चयन किया जाता है। 1987 में जब इस क़िस्म के छह टॉप अमरीकी छात्रों का सिलेक्शन किया गया तो उनमें एक हिन्दुस्तानी लड़की केशानी भूषण का नाम भी शामिल था। उसको बाल्डविन कालेज (Mary Baldwin College) से एक हज़ार डालर महीने का वज़ीफ़ा दिया जाएगा (*हिन्दुस्तान टाइम्स* 30 अगस्त 1987)
2. दिल्ली के 21 मार्च के अख़बारों में एक ख़बर थी। इंडियन एक्सप्रेस (21 मार्च 1988) ने उसकी सुर्ख़ी इन लफ़्ज़ों में लगाई थीः अमरीकी विज्ञान प्रतियोगिता में हिन्दुस्तानी लड़के ने टाप कियाः

   Indian boy tops in U.S. Science Competition
3. अमेरिका में कई क़िस्म के साइंसी मुक़ाबले होते हैं। उनमें से एक ख़ास मुक़ाबला वह है, जिसे वेस्टिंगहाउस साइंस टैलेंट सर्च (Westinghouse Science Talent Search) कहा जाता है। 1988 में इसका 47 वां सालाना मुक़ाबला हुआ। इस मुक़ाबले में जो छात्र अव्वल आया वह एक हिन्दुस्तानी छात्र था, जिसका नाम चेतन नायक है। उसको 20 हज़ार डालर सालाना तालीमी वज़ीफ़ा दिया जाएगा, ताकि वह अपनी तालीम अच्छी तरह जारी रख सके। पिछली वेस्टिंग हाउस साइंस टैलेंट सर्च में कामयाब होने वाले पांच छात्रों ने बाद में नोबेल प्राइज़ हासिल किया।

तालीम मौजूदा ज़माने में कामयाबी का टिकट (ticket to success) है। तालीम

के डिगरी वाले निज़ाम ने कामयाबी के इस ज़ीने को हर आदमी के दरवाज़े तक पहुंचा दिया है। इससे फ़ायदा उठाने के लिए सिर्फ़ एक चीज़ की ज़रूरत है और वह मेहनत है। यदि इंसान मेहनत और समझदारी के साथ इस अवसर का सही उपयोग करे, तो वह हर जगह बड़ी सफलता प्राप्त कर सकता है—चाहे वह अमेरिका हो, हिन्दुस्तान हो या कोई और देश।

खोज

खोज इंसान की एक बड़ी उपलब्धि है। कोई नई चीज़ खोज लेना किसी व्यक्ति का सबसे बड़ा काम माना जाता है। इतिहास के हर दौर में ऐसे लोगों को विशेष सम्मान मिला है जिन्होंने मानव ज्ञान में कोई नया योगदान दिया हो।

खोज क्या है और कोई व्यक्ति किस तरह किसी खोज तक पहुँचता है, इस बारे में वैज्ञानिक अल्बर्ट सेंट ग्योर्जी (Albert Szent-Györgyi, 1893-1986) का एक कथन बेहद अर्थपूर्ण है। उन्हें भौतिकी में नई खोज के लिए नोबेल पुरस्कार मिला था। इस विषय पर एक प्रश्न के उत्तर में उन्होंने कहा था कि “खोज का मतलब है उस चीज़ को देखना जिसे सब ने देखा है, लेकिन उस पर वैसा सोचना जैसा किसी ने नहीं सोचा”:

> Discovery consists of seeing what everybody has seen and thinking what nobody has thought.

खोज के इस विवरण की एक प्रसिद्ध मिसाल न्यूटन की घटना है। न्यूटन ने पेड़ से गिरता हुआ सेब देखा। फल का पेड़ से गिरना एक आम घटना है, जिसे हर कोई जानता है और देखता है। मगर न्यूटन ने जब इस साधारण घटना को ध्यान से देखा तो उसे इस में एक असाधारण रहस्य मिला—गुरुत्वाकर्षण बल के नियम (laws of gravity)। वह चीज़ जिसे सबने देखा था, उसमें उसने वह पाया जो किसी ने नहीं पाया।

यही खोज सभी बड़ी सफलताओं का आधार है। वही व्यक्ति ऊँचाइयों तक पहुँचता है जो कुछ नया खोज लेता है। वही राष्ट्र दूसरों से आगे बढ़ता है जो नई राहें और उपाय खोज सके। जो लोग अपनी नई सोच की शक्ति को नहीं जगाते, वे हमेशा पीछे रह जाते हैं; वे कभी आगे बढ़ने वालों में शामिल नहीं हो पाते।

सेवा का चमत्कार

नई दिल्ली के अंग्रेजी पंद्रह-दिवसीय पत्रिका इंडिया टुडे (15 अगस्त 1990) के पृष्ठ 68 पर एक शिक्षाप्रद घटना छपी थी। मोहम्मद हनीफ़ सुलैमान (35 वर्ष) लखनऊ के एक मुस्लिम नाई हैं। वे पिछले दस साल से श्री मुलायम सिंह यादव की हजामत करते आ रहे हैं। जब श्री यादव केवल एक नेता थे, तब भी वे यही काम करते थे। अब यादव जी उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री बन गए थे। हनीफ सुलैमान ने उनसे कहा कि आप अब बड़े पद पर पहुँच गए हैं, मुझे लखनऊ के हजरतगंज बाज़ार में एक दुकान दिला दीजिए।

यादव जी ने हाँ कह दी, लेकिन बाद में वे अपना वादा भूल गए। हनीफ़ सुलैमान ने कुछ महीनों तक इंतज़ार किया, फिर उन्होंने मुख्यमंत्री निवास पर जाना छोड़ दिया। यादव जी ने जब पता करवाया तो मालूम हुआ कि सुलैमान उनसे नाराज़ हैं, क्योंकि उन्होंने वादा पूरा नहीं किया। यह जानकर यादव जी ने अपने अधिकारियों को आदेश दिया कि हज़रतगंज में सुलैमान के लिए एक दुकान ढूँढी जाए। अधिकारियों ने बहुत कोशिश की, लेकिन वहाँ कोई दुकान खाली नहीं मिली।

हज़रतगंज में लखनऊ डिवेलपमेंट अथॉरिटी के पावर डिपार्टमेंट का एक सरकारी दफ्तर था। मुख्यमंत्री के आदेश पर वह दफ्तर खाली कराकर सुलैमान को दे दिया गया, ताकि वे वहाँ अपनी दुकान खोल सकें। रिपोर्ट के अनुसार उस समय 1250 लोग हज़रतगंज में दुकान पाने की प्रतीक्षा सूची में थे। मगर सुलैमान ने उन

सब पर एक झटके में बढ़त ले ली और लखनऊ के सबसे महत्वपूर्ण बाज़ार में पाँच लाख रुपये की कीमत वाली दुकान हासिल कर ली। अब मोहम्मद हनीफ़ सुलैमान ने वहाँ अपना काम शुरू कर दिया है। दुकान के ऊपर लिखा है—बॉम्बे हेयर ड्रेसर्स (Bombay Hair Dressers)।

रिपोर्टर के प्रश्न के उत्तर में सुलैमान ने कहा —"मैं अपनी सेवा के कारण इसका हक़दार था।"

(I was deserving of it because of my service.)

मानसिक निर्माण

संयुक्त राष्ट्र के आर्थिक और सांस्कृतिक संगठन के संविधान में जो बातें लिखी गई हैं, उनमें से एक महत्वपूर्ण बात यह है:

> "Since wars begin in the minds of men, it is in the minds of men that the defences of peace must be constructed."
>
> (चूंकि युद्ध का आरंभ मनुष्य के मस्तिष्क में होता है, इसलिए शांति के बचाव भी मनुष्य के मस्तिष्क में ही निर्मित किए जाने चाहिए।)
>
> (www.en.unesco.org/70years/building_peace
>
> [accessed on 01.06.21])

यह बहुत सही बात है। वास्तविकता यह है कि चाहे सड़क पर दो व्यक्तियों का झगड़ा हो या जंग के मैदान में दो राष्ट्रों का टकराव, इस प्रकार की सभी घटनाएं हमेशा ज़ेहन में शुरू होती हैं। कुछ लोगों के ज़ेहन में गुस्सा, उत्तेजना, इंतेक़ाम और नफरत के विचार पैदा होते हैं। जब यही सोच व्यवहार में आ जाती है, तो

वह झगड़े या युद्ध का रूप ले लेती है। इसलिए अगर इंसान के दिमाग में शांति पैदा हो जाए, तो उसके कामों में भी शांति दिखाई देगी।

मनुष्य के ज़ेहन में नकारात्मक विचार हमेशा प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न होते हैं। किसी ने कठोर बात कह दी, तो आपको गुस्सा आ गया। किसी ने अप्रिय अनुभव दिया, तो आप उत्तेजित हो गए। किसी ने आपके सम्मान को ठेस पहुंचाई, तो आपके भीतर इंतेक़ाम की आग भड़क उठी। यही सभी चीजें, जो शुरुआत में दिमाग के अंदर उत्पन्न होती हैं, बाहर आकर युद्ध और अशांति का कारण बन जाती हैं।

ऐसी स्थिति में व्यक्तिगत झगड़े और राष्ट्रीय युद्ध दोनों को रोकने का एकमात्र प्रभावी तरीक़ा यह है कि लोगों को जेहनी तौर पर विकसित किया जाए। लोगों के भीतर वह स्वभाव विकसित किया जाए जिसे धर्म में "सब्र" (धैर्य) कहा गया है। यह लक्ष्य तब प्राप्त होगा, जब लोगों की नकारात्मक सोच को समाप्त किया जाए और उनके भीतर सकारात्मक सोच विकसित की जाए। लोगों को यह स्वभाव सिखाया जाए कि वे उत्तेजक बातों पर उत्तेजित न हों। वे अप्रिय घटनाओं में उलझने के बजाय उनसे बचें। वे नफरत के जवाब में प्रेम करना सीखें। वे शांत दिमाग से निर्णय लें, न कि भावनात्मक उबाल के तहत।

ज़ेहन का सुधार, काम का सुधार है; और ज़ेहन का निर्माण, जीवन का निर्माण है।

अनिवार्य समस्या

ऐनी ब्रोंटे (Anne Bronte) एक महिला लेखिका थीं। उनका जन्म 1820 में इंग्लैंड में हुआ और 1849 में उनका निधन हो गया। उनकी रचनाओं में जीवन की वास्तविकताओं को समझने और स्वीकार करने का संदेश मिलता है। उनका

एक कथन है कि इस अपूर्ण दुनिया में हर चीज़ के साथ हमेशा एक "लेकिन" जुड़ा रहता है।:

"There is always a 'but' in this imperfect world."

यह निस्संदेह एक बहुत ज्ञान देने वाली बात है। यह दुनिया परीक्षा के लिए बनाई गई है, इसलिए यहाँ आदर्श स्थिति प्राप्त करना संभव नहीं है। यहां विभिन्न प्रकार की सीमाएं हैं। यहां हर इंसान को विचार और कर्म की स्वतंत्रता हासिल है। यहां बार-बार हितों का टकराव होता है। इस आधार पर, यहां किसी के लिए भी एक सहज जीवन प्राप्त करना संभव नहीं है। यहां हर व्यक्ति को हमेशा एक "लेकिन" का सामना करना पड़ता है। इसलिए ज़रूरी है कि व्यक्ति अपने कार्यों में इस हक़ीक़त को ध्यान में रखे। अन्यथा, अंत में उसे असफलता का सामना करना पड़ेगा।

आप स्वतंत्र हैं कि अपनी गाड़ी को सड़क पर पूरी तेज़ रफ्तार से दौड़ाएं। लेकिन यह आपके बस में नहीं कि दूसरी दिशा से आने वाली गाड़ियों को रोककर सड़क को केवल अपने लिए खाली कर लें। आप एक अप्रिय जुलूस को रोकने के लिए उससे उलझ सकते हैं, लेकिन यह आपके नियंत्रण में नहीं कि उसके बाद सशस्त्र पुलिस को हस्तक्षेप करने से रोक दें। आप अपने एक राष्ट्रीय मुद्दे के लिए रैली और प्रदर्शन का आयोजन कर सकते हैं, लेकिन आपके लिए यह मुमकिन नहीं कि विपक्ष के भीतर विरोधी प्रतिक्रिया को रोक सकें। आप अन्याय के नाम पर विरोध और मांगों का तूफान खड़ा कर सकते हैं, लेकिन आप इस दुनिया के उस नियम को नहीं बदल सकते जिसमें व्यक्ति को उतना ही मिलता है जितनी योग्यता उसने अपने अंदर पैदा की हो।

इस दुनिया में हर ओर एक "लेकिन" की रुकावट खड़ी है। इस रुकावट को पहचानें और इसे ध्यान में रखते हुए अपने कार्यों की योजना बनाएं। अगर आपने इसे अनदेखा कर दिया और अपना कार्य शुरू कर दिया, तो अंत में बर्बादी के सिवा कोई और चीज़ आपके हिस्से में आने वाली नहीं।

प्रकृति का पाठ

टीक (teak) एक मकान-संबंधी लकड़ी है। टीक का सबसे बड़ा उत्पादक देश म्यांमार (बरमा) है। इसके बाद भारत, थाईलैंड, इंडोनेशिया और श्रीलंका में टीक का उत्पादन होता है। भारत में लगभग 2,000 वर्षों से इसका उपयोग किया जा रहा है।

टीक की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता, एक विशेषज्ञ के शब्दों में, इसकी असाधारण टिकाऊ क्षमता (extraordinary durability) है। हज़ारों साल पुरानी इमारतों में भी सागौन की लकड़ी की बीमें अच्छी हालत में मिली हैं। प्राचीन समय में जहाज़, पुल आदि भी प्रायः इसी लकड़ी से बनाए जाते थे।

टीक की लकड़ी के लंबे समय तक टिके रहने का मुख्य कारण यह है कि, आम लकड़ियों की तरह, इसमें दीमक नहीं लगती। दीमक लकड़ी का दुश्मन है। दीमक लगने के बाद कोई भी लकड़ी लंबे समय तक सही स्थिति में नहीं रह सकती। लेकिन टीक के लिए दीमक का कोई खतरा नहीं है। इसी वजह से इसकी लंबी उम्र को कोई चुनौती नहीं दे सकता।

टीक की वह कौन-सी विशेषता है जिसकी वजह से वह दीमक के खतरे से सुरक्षित रहती है? इसका कारण बिल्कुल साधारण है। टीक की लकड़ी में एक प्रकार का कड़वा स्वाद होता है। यह स्वाद दीमक को पसंद नहीं है। लकड़ी ही दीमक का भोजन है, लेकिन टीक की लकड़ी, विशेष रूप से, दीमक के स्वाद के अनुसार नहीं होती। इसी कारण दीमक इसे अपना भोजन नहीं बनाता।

इस उदाहरण से प्रकृति का तरीक़ा समझ में आता है। प्रकृति ने यह चाहा कि टीक को दीमक से बचाया जाए। इस उद्देश्य के लिए उसने टीक को शोर-शराबा या विरोध का तरीक़ा नहीं सिखाया। प्रकृति ने सीधा यह किया कि टीक के अंदर एक ऐसी विशेषता पैदा कर दी, जिसके परिणामस्वरूप दीमक अपने-आप उससे दूर हो गया।

इस दुनिया में, जैसे लकड़ी का दुश्मन दीमक है, वैसे ही मनुष्यों में भी एक-दूसरे के दुश्मन होते हैं। अब मनुष्य उनसे बचने के लिए क्या कर सकता है? उसे यह करना है कि वह अपने अंदर ऐसी विशेषता विकसित कर ले, जिससे उसका दुश्मन अपने-आप उससे दूर रहे। वह उसके खिलाफ कोई कार्रवाई करने से स्वाभाविक रूप से बच जाए।

जीवन की यात्रा

जिओमेट्री के नियमों में से एक मशहूर नियम यह है कि दो बिंदुओं के बीच सबसे छोटा फासला सीधी रेखा होती है:

> A straight line is the shortest distance between two points.

यह बात रोशनी की यात्रा के लिए बिलकुल सही है, क्योंकि तजुर्बा बताता है कि रोशनी हमेशा सीधी रेखा में ही चलती है। लेकिन अगर कोई इंसान इस नियम को अपनी ज़िंदगी की यात्रा पर लागू करने लगे तो उसे भटकने से कोई नहीं रोक सकता।

अगर आप अपने घर से निकलकर चाहते हैं कि आख़िरी मंज़िल तक बिल्कुल सीधी रेखा में चलें, तो इस तरह कहीं आप किसी गड्ढे में गिर सकते हैं, कहीं किसी पहाड़ से टकरा सकते हैं, कहीं दरिया की लहरें आपके सफर को मौत का सफ़र बना देंगी। इसलिए कोई भी आँख वाला आदमी ऐसा नहीं करता कि वह जियोमेट्री के नियम के मुताबिक अपना सारा सफ़र तय कर ले। हर समझदार इंसान रास्तों और हालात की सम्भावना देखकर अपना मार्ग चुनता है। वह जियोमेट्री के सिद्धांत के अनुसार कभी अपना जीवन-मार्ग नहीं बनाता।

आज के ज़माने में कुछ मुसलमान दुनिया भर में अपने माने हुए दुश्मनों के

खिलाफ लड़ाई छेड़े हुए हैं। जब वे अपने जीवन के सफ़र पर निकलते हैं तो उन्हें लगता है कि उनके रास्ते में नदी या पहाड़ जैसी कुछ क़ौमें खड़ी हैं। वे तुरंत उन क़ौमों के ख़िलाफ़ जिहाद का ऐलान कर देते हैं।

यह तरीक़ा, जो आजकल दुनिया भर में कुछ लोग अपना रहे हैं, सीधी रेखा में यात्रा करने की कोशिश के समान है। पर ऐसी कोशिश कभी कामयाब नहीं हो सकती। यह केवल मौत की गतिविधियाँ हैं, जीवन की नहीं।

ज़िंदगी का सफ़र जियोमेट्री के नियमों पर नहीं तय होता। इसे हालात की अनुकूलता और प्रतिकूलता को देखकर तय किया जाता है। जीवन की वास्तविक योजना वही सही और सफल होती है जिसमें बाहरी परिस्थितियों का पूरा ध्यान रखा गया हो।

फ़र्ज़ी वहम

एक मानसिक बीमारी है जिसे हाइपोकॉन्ड्रिया (Hypochondriasis) कहा जाता है। इस बीमारी से ग्रस्त व्यक्ति बिना वास्तविक बीमारी के भी अपने आपको बीमार समझने लगता है। ऐसे लोग अक्सर यह मान बैठते हैं कि उन्हें कोई बीमारी है, जबकि वास्तव में ऐसा नहीं होता।

> The hypochondriac may become convinced that diseases exist even though they are absent. (V/257)

28 जुलाई 1992 की एक मुलाक़ात में पुणे के जनाब फरहत हारून ख़ान साहब ने बताया कि 1971 में उनकी मुलाक़ात एक 20 साल के अरब विद्यार्थी मोहम्मद अब्दुल ग़फ़्फ़ार से हुई थी। वह बहरीन का रहने वाला था और पढ़ाई के लिए पुणे आया था। उसे यह वहम हो गया कि भारत का खाना खाते-खाते उसकी सेहत खराब हो गई है और वह किसी भयंकर बीमारी में पड़ गया है।

उसने फरहत साहब से कहा कि मुझे किसी अच्छे डॉक्टर के पास ले चलिए। फरहत साहब उसे पुणे के डॉक्टर एस. एम. एच. मोदी के पास ले गए। डॉक्टर मोदी ने उस नौजवान की पूरी जाँच की और कई टेस्ट लिए। कुछ दिनों बाद उन्होंने फरहत साहब से कहा कि उसे बता दीजिए कि उसे कोई बीमारी नहीं है, वह बिल्कुल स्वस्थ है —

He is as fit as a horse.

डॉक्टर मोदी का यह कहना सुनते ही उस अरब नौजवान की सारी चिंता खत्म हो गई। वह एक सामान्य आदमी की तरह रहने लगा, जैसे वह कभी बीमार ही नहीं था।

इस तरह की बीमारी सिर्फ व्यक्तियों तक सीमित नहीं रहती। कभी-कभी पूरी जाति या क़ौम को भी ऐसा मनोवैज्ञानिक वहम हो जाता है। उसके नेता उसे गलत दिशा में सोचने पर मजबूर कर देते हैं कि चारों तरफ से खतरे हैं और सब दुश्मन हैं। ऐसी क़ौम की तरक्क़ी का राज़ यह है कि उसे इस कल्पित वहम से बाहर निकाला जाए। इसके बाद वह अपने विकास की राह पर आगे बढ़ने लगती है।

एक उदाहरण

मालेगाँव के दंगे के बारे में दिल्ली के एक उर्दू मासिक (*अफकार-ए-मिल्ली*, सितंबर 1992) में एक रिपोर्ट प्रसारित हुई थी। उसका निचोड़ उसी के शब्दों में यहाँ दिया जा रहा है:

> “मालेगाँव में 19 जुलाई 1992 को सांप्रदायिक दंगे की आग भड़क उठी। इस दंगे में 3 करोड़ रुपये की संपत्ति लूटी गई या जला दी गई। तीन मुसलमान मारे गए और 135 से अधिक लोग घायल होकर अस्पतालों में इलाज करा रहे हैं। कारोबार बंद होने की वजह से यहाँ की बस्तियाँ, जिनमें मुसलमानों की संख्या

> ज़्यादा है, मायूसी और उदासी में डूबी नज़र आती हैं। मजदूर वर्ग भूख और बेरोजगारी के डर में है और व्यापारी वर्ग आर्थिक परेशानियों में फँसा हुआ है।

19 जुलाई को बाबरी मस्जिद के मुद्दे पर अपने ग़म और ग़ुस्से के इज़हार के लिए मुसलमानों ने अपने कारोबार और दुकानें बंद करने का फैसला किया था। बाबरी मस्जिद बचाओ आंदोलन के तहत स्थानीय जनता दल के विधायक जनाब निहाल अहमद ने मस्जिद की हिफ़ाज़त के लिए एक कमेटी बनाई और 18 जुलाई की रात को क़िदवई रोड पर एक आम सभा आयोजित की। उन्होंने 19 जुलाई को मालेगाँव बंद रखने और विरोध जुलूस निकालने का भी ऐलान किया। मुसलमानों ने इस ऐलान का गर्मजोशी से स्वागत किया। शहर में सांप्रदायिक तनाव की शुरुआत यहीं से हुई।

अगले दिन 25 से 30 हज़ार लोगों का एक मोर्चा (विरोध जुलूस) जनाब निहाल अहमद की अगुवाई में क़िले के पास से निकला। लेकिन यह मोर्चा मौसम पुल तक भी नहीं पहुँचा था कि अफरा-तफरी और ग़ुस्से में बदल गया। बताया जाता है कि एक गैर-मुस्लिम फ़ोटोग्राफ़र ने, जुलूस में शामिल कुछ मुसलमानों के मना करने के बावजूद, तस्वीरें लेना बंद नहीं किया तो उससे कैमरा छीनने की कोशिश की गई। इस छीना-झपटी के दौरान पुलिस वहाँ पहुँची और मामला शांत कराने की कोशिश कर रही थी कि जुलूस के कुछ लोगों ने पत्थर फेंकना शुरू कर दिया, और वहीं से हिंसा और पलटवार का भयानक सिलसिला शुरू हो गया।”

जब सब्र वाले लोग जुलूस निकालते हैं, तो उसे प्रदर्शन कहा जाता है; और जब बेसब्र लोग निकालते हैं, तो उसे दंगा कहा जाता है।

गुस्से का परिणाम

दिल्ली में करोल बाग के इलाके में अजमल खान रोड है। यहां एक साथ जूते की दो दुकानें थीं। एक दुकान के मालिक का नाम सुरेंद्र कुमार (35 साल) है और दूसरी दुकान के मालिक का नाम बलराज अरोड़ा (45 साल)। एक हफ्ते पहले सुरेंद्र कुमार की दुकान से एक व्यक्ति ने एक जोड़ी जूता खरीदा। दुकानदार ने इसकी कीमत 180 रुपये ली। ग्राहक बाहर निकला तो दूसरे दुकानदार बलराज अरोड़ा ने उसे आवाज़ देकर बुलाया। उसके जूते देखकर पूछा कि तुमने यह कितने रुपये में खरीदा। उसने बताया कि 180 रुपये में। बलराज अरोड़ा ने अपनी दुकान से वैसा ही जूता निकालकर दिखाया और कहा कि देखो, यह वही जूता है और इसे मैं तुम्हें सिर्फ 135 रुपये में दे सकता हूं (द *पायनियर*, 14 अक्टूबर 1992)।

ग्राहक गुस्से में आ गया। वह जूता लेकर दोबारा सुरेंद्र कुमार की दुकान पर गया और कहा कि तुमने मुझसे ज्यादा पैसे लिए हैं। मुझे 45 रुपये वापस करो। इस पर सुरेंद्र कुमार भड़क गया और पड़ोस की दुकान पर जाकर बलराज अरोड़ा को डांटने लगा। कुछ लोगों ने बीच-बचाव कर दोनों को अपनी-अपनी दुकानों में वापस भेज दिया। लेकिन गुस्सा बरकरार रहा। यहां तक कि एक हफ्ते बाद, 13 अक्टूबर 1992 को, सुरेंद्र कुमार ने बलराज अरोड़ा से तेज-तेज बात की और आखिरकार अपनी जेब से रिवॉल्वर (32 bore Smith and Wesson) निकाली और एक के बाद एक छह गोलियां उस पर चला दीं। बलराज अरोड़ा को तुरंत लोहिया अस्पताल ले जाया गया, जहां डॉक्टरों ने उसे मृत घोषित कर दिया।

अब हत्यारे का मामला अदालत में है। या तो मारे गए व्यक्ति की तरह हत्यारे को भी फांसी पर लटकाया जाएगा, या हत्यारा लाखों रुपये खर्च करके मुकदमे को अपने पक्ष में करवाएगा और अदालत से रिहाई का फैसला हासिल करेगा। अगर एक स्थिति हत्यारे के लिए शारीरिक मौत है, तो दूसरी स्थिति उसके लिए आर्थिक मौत।

हत्यारा अगर गुस्से और बदले की भावना से प्रभावित न होता, तो वह बहुत आसानी से समझ सकता था कि उसके लिए बेहतर विकल्प यह था कि वह इस ग्राहक को 45 रुपये लौटा देता और उसे विदा कर देता। जहां तक पड़ोसी दुकानदार का मामला था, वह उसे व्यावसायिक तरीके से हल करने की कोशिश करता।

एक मैदान

विंग कमांडर मोहम्मद यूसुफ़ ख़ान (जन्म 1943) पेशे से पायलट हैं, लेकिन उन्हें लेखन और पत्रकारिता का भी शौक है। वे अंग्रेज़ी अख़बारों में नियमित रूप से लेख लिखते हैं, और उनके लेख कई राष्ट्रीय समाचार पत्रों में प्रकाशित होते रहे हैं। 3 दिसंबर 1992 को दिल्ली में उनसे मुलाकात हुई, जहाँ उन्होंने कई सीख देने वाली बातें साझा कीं।

इस समय वे इंडियन मेटल एंड फेरो एलॉयज़ लिमिटेड (Indian Metal & Ferro Alloys Ltd.) में वरिष्ठ पायलट हैं। कंपनी का मुख्य दफ़्तर भुवनेश्वर (उड़ीसा) में है। उनका एक लेख हिंदुस्तान टाइम्स (18 अक्टूबर 1992) में छपा था, जिसका विषय बच्चों की शिक्षा था और शीर्षक था—

> "Can you leave them to the teacher?" (क्या आप उन्हें शिक्षकों पर छोड़ देंगे?)

उनका एक और लेख द पायनियर (4 अक्टूबर 1992) में प्रकाशित हुआ था, जो यात्रा से जुड़ा था और जिसका नाम था।—"A Week in Orissa" (एक सप्ताह उड़ीसा में)।

जब कंपनी के अधिकारियों को यह लेख पढ़ने को मिले, तो वे बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने इन लेखों को कंपनी के नोटिस बोर्ड पर लगाया और उनकी फोटो कॉपियाँ बनवाकर अलग-अलग शाखाओं में भेजीं। इन लेखों की वजह से

कंपनी में यूसुफ़ ख़ान की प्रतिष्ठा और बढ़ गई। कंपनी के मानव संसाधन विकास के महाप्रबंधक श्री पाशिने ने कहा:

> We are proud that you write for the newspapers. We would like all our employees to know that we have an employee of this caliber who writes for national dailies. (Mr. Pashine, General Manager, Human Resource Development)
>
> "हमें गर्व है कि आप अख़बारों में लिखते हैं। हम चाहते हैं कि हमारे सभी कर्मचारी जानें कि हमारी कंपनी में इतना योग्य व्यक्ति काम करता है जो राष्ट्रीय अख़बारों में लिखता है।"

यह घटना हमें यह सिखाती है कि अगर आप लोगों के बीच इज़्ज़त चाहते हैं, तो लोगों के काम आइए—यहाँ तक कि उनके लिए गर्व का कारण बन जाइए।

विनाशकारी योजना

इंडिया के पूर्व प्रधान मंत्री राजीव गांधी को मद्रास में 21 मई 1991 को हत्या कर दी गई थी। यह हत्या श्रीलंका के तमिल टाइगर्स (LTTE) ने की थी। उन्होंने इस मक़सद के लिए इतनी सफल योजना बनाई थी कि पहली नज़र में ऐसा लगा कि वे कभी पकड़े नहीं जाएंगे। पर अंततः 20 अगस्त 1991 को बेंगलुरु पुलिस उसी मकान तक पहुंच गई जहाँ इस हत्या का असली साजिशकर्ता 23 साल का सिवरासन (Sivarasan) छिपा हुआ था। पुलिस की बड़ी संख्या देखकर सिवरासन और उसके साथियों ने साइनाइड खाकर आत्महत्या कर ली।

सिवरासन के इस तरह पकड़ में आने की वजह उसकी एक "गलती" थी। 21 मई को जब सिवरासन अपनी टीम के साथ उस सभास्थल पर पहुंचा जहाँ उसने राजीव गांधी की हत्या करनी थी, तो उसने अपना रूप प्रेस रिपोर्टर जैसा बना लिया था। अपनी इस शक्ल को और भरोसेमंद दिखाने के लिए उसने एक स्थानीय फ़ोटोग्राफ़र हरी बाबू को साथ ले लिया।

हरी बाबू केवल एक किराये का आदमी था। ज़रूरत के लिहाज़ से उसे असली योजना से अनजान रखा गया था। हरी बाबू ने जैसा आम तौर पर करता था, अलग-अलग दिशाओं से राजीव गांधी की तस्वीरें लीं। उन तस्वीरों में एक ऐसी तस्वीर थी जिसमें सिवरासन भी आ गया। जब वह बम फटा जिसने राजीव गांधी को मार डाला, तब पास के मरे हुए लोगों में हरी बाबू भी था। सिवरासन भागने में कामयाब हो गया, पर उसके "फ़ोटोग्राफ़र" का कैमरा पुलिस के हाथ लग गया। पुलिस ने उस कैमरे से सिवरासन की तस्वीर निकालकर अख़बारों में छाप दी और घोषणा की कि जो कोई इस तस्वीर वाले व्यक्ति का पता बताएगा उसे दस लाख रुपये इनाम दिया जाएगा। बेंगलुरु की एक दूध वाली औरत जो सिवरासन को रोज़ दूध पहुंचाती थी, उसने तस्वीर की मदद से सिवरासन की पहचान कर ली। उसकी सूचना पर पुलिस बेंगलुरु के बाहरी इलाक़े में बताये गये इस मकान तक पहुंची। (*Times of India*, 21 August 1991)

किसी साज़िश व आकस्मिक घटना को पूरा होने तक पहुँचाने के लिए कई कारक की मदद चाहिए होती है। मनुष्य अपनी सीमाओं के कारण उन सभी बातों का ख्याल नहीं रख पाता। इसी कारण हर विनाशकारी योजना में कोई न कोई कमी रह जाती है। यही कमी अंततः उस योजना को असफल बना देती है।

सुधार का एहसास

एक मुसलमान नौजवान से मुलाकात हुई। वह किताबत (हाथ से किताब लिखने) का काम करता था। उसने कहा, मैं अर-रसाला पत्रिका हमेशा पढ़ता हूँ, बहुत अच्छी लगती है, लेकिन एक बात समझ में नहीं आती—आप अक्सर मुसलमानों की कमियों की बात करते हैं, इससे तो लोगों में हीन भावना आ जाएगी।

मैंने कहा, "तुम एक कातिब हो। अगर तुम "जीम" या "ऐन" (उर्दू के दो अक्षर) का घेरा ठीक से न बनाओ और तुम्हारे उस्ताद तुम्हें बताएं, तो क्या तुम कहोगे

कि वे तुम्हें छोटा महसूस करा रहे हैं? उसने कहा, नहीं। मैंने कहा, ठीक वैसा ही अर-रसाला के लेखों का मक़सद है। यह कमज़ोरी दिखाने के लिए नहीं, बल्कि सुधार का एहसास जगाने के लिए है। क्योंकि जब तक कोई अपनी ग़लती नहीं सुधारेगा, वह आगे नहीं बढ़ सकेगा।

अरबी की एक कहावत है—"जो तुम्हें सलाह देता है, वह उस से बेहतर है जो तुम्हारी तारीफ़ करता है।" इसका मतलब है कि सच्चा दोस्त वही है जो तुम्हारी ग़लती बताकर तुम्हें सही रास्ता दिखाए।

कुरआन में घाटे (ख़ुस्र) से बचने के लिए बताया गया है कि लोग आपस में एक-दूसरे को सत्य बात बोलने और सब्र करने की सलाह देते रहें (103:2-3)। यानी वही समूह इस दुनिया में नुक़सान और बर्बादी से बच सकता है, जिसके लोगों के भीतर यह भावना ज़िंदा हो कि जब वे अपने भाई को सच्चाई के रास्ते से हटता देखें तो तुरंत उसे सचेत करें, और जब उसे अधैर्य की ओर जाते देखें तो उसे धैर्य का महत्व याद दिलाएँ।

सहाबा के भीतर नसीहत देने और नसीहत सुनने—दोनों का जज़्बा पूरी तरह मौजूद था। एक बार एक मामले में हज़रत उमर ने फैसला दिया। हज़रत अली ने उसमें ग़लती देखी और उसे याद दिलाया। हज़रत उमर ने, खलीफ़ा और शासक होने के बावजूद, तुरंत उसे मान लिया और कहा: अगर अली न होते तो उमर नष्ट हो जाता। (*अल-इस्तीआब फ़ी मारिफ़तिल-असहाब*, खण्ड 3, पृष्ठ 1103)

बेहतर हुकूमत

आज़ादी के बाद आपकी सबसे बड़ी मुश्किल क्या रही है?—यह सवाल फ्रांसीसी लेखक आंद्रे मालरो ने एक बार जवाहरलाल नेहरू से पूछा था। नेहरू ने जवाब दिया—"एक सही हुकूमत को सही साधनों से बनाना।"

What has been your greatest difficulty since

Independence, is a question that Andre Malraux once asked Jawaharlal Nehru.'' Creating a just state by just means,'' Nehru replied.

जवाहरलाल नेहरू को भारत में पूरा अधिकार प्राप्त था, लेकिन फिर भी वे बेहतर सरकार बनाने में खुद को लाचार महसूस करते थे। वजह यह थी कि बेहतर हुकूमत ताक़त से नहीं बनती, बल्कि ऐसे लोगों से बनती है जो सरकार से बाहर समाज को सुधारने के लिए काम करें।

असल में अच्छी सरकार बनाने की शुरुआत अच्छे लोगों को बनाने से होती है। इसका तरीक़ा यह है कि कुछ लोग पूरी तरह रचनात्मक ढंग से लोगों के सोच-निर्माण के काम में लगें। वे भाषण, लेखन और अन्य उपलब्ध साधनों के ज़रिए एक-एक व्यक्ति की सोच को बदलने की कोशिश करें।

यह काम धीरे-धीरे, शांति से और लंबे समय तक चलता है। यह वैसा ही है जैसे कोई निर्माण का लावा (ताप) अंदर ही अंदर पकाया जा रहा हो। जब लोगों की सोच और ज़िंदगी में बदलाव आता है, तब समाज में भी बदलाव आता है। और जब समाज सुधरता है, तो सरकार अपने आप सुधर जाती है।

व्यक्तियों में बदलाव → समाज में बदलाव → सरकार में बदलाव। क्योंकि लोकतंत्र में सरकार वही होती है जो समाज के अंदर से निकलती है। यह काम बहुत खामोशी, मेहनत और सब्र का होता है। इसमें इंसान को बहुत काम करना पड़ता है लेकिन नाम या इनाम बहुत कम मिलता है। यह ऐसा काम है जैसे क़ौम की इमारत का गुंबद खड़ा करने के लिए खुद नींव में दब जाना। यही इसकी मुश्किल और असली महानता है।

व्यक्ति में आने वाला परिवर्तन समाज में परिवर्तन लाता है, और समाज में परिवर्तन आगे चलकर शासन में परिवर्तन लाता है। क्योंकि लोकतांत्रिक व्यवस्था में शासन समाज के भीतर से ही बनता है। रचनात्मक परिवर्तन की तैयारी एक बहुत शांत और धैर्यपूर्ण काम है। इसमें व्यक्ति को काफी मेहनत

करनी पड़ती है, लेकिन बदले में बहुत कम प्रशंसा मिलती है। यह ऐसा है जैसे राष्ट्र का मीनार खड़ा करने के लिए उसकी नींव में स्वयं को दबा देना। यही कठिनाई है जिसके कारण लोग इस क्षेत्र में मेहनत करने के लिए तैयार नहीं होते।

सही मशवरा

प्रधान मंत्री नरसिम्हा राव ने 46वें स्वतंत्रता दिवस पर एक बहुत अहम बात कही, जिसे ज़्यादातर अख़बारों ने अपनी सुर्खी बनाई। हिंदुस्तान टाइम्स (16 अगस्त 1992) की रिपोर्ट का शीर्षक था—"प्रधानमंत्री की अपील है कि विवादित मामलों को तीन साल के लिए टाल दिया जाए।"

> (PM for three-year moratorium on contentious issues)

प्रधान मंत्री ने कहा कि हमारे बीच कई मतभेद हैं, और यह स्वाभाविक बात है। लेकिन आज़ादी के लगभग पचास साल बाद भी अगर हम गंभीर समस्याओं में उलझे रहें, तो यह देश की तरक़्क़ी में रुकावट है। इन मुश्किलों को हल करने के लिए एकाग्रता की ज़रूरत है। हमें चाहिए कि कम से कम अगले तीन साल तक झगड़ों को किनारे रखकर अपनी सारी ताक़त देश की उन्नति में लगाएँ।

यही असल में तरक़्क़ी और कामयाबी का एकमात्र सिद्धांत है। आज की दुनिया में यह ज़रूरी है कि एक व्यक्ति और दूसरे व्यक्ति के बीच, और एक समूह और दूसरे समूह के बीच मतभेद और विवाद उत्पन्न होते हैं। इस दुनिया में बिना मतभेदों के ज़िन्दगी संभव नहीं है।

इसलिए समझदारी यह है कि झगड़ों को कुछ समय के लिए भुला दिया जाए और अपनी पूरी शक्ति निर्माण और सुधार के कामों में लगाई जाए। अगर हमेशा के लिए झगड़ों से दूर रहना संभव न हो, तो थोड़े समय के लिए ही सही, लेकिन झगड़ों को टालना ज़रूरी है।

इंसान एक साथ दो मोर्चों पर ताक़त नहीं लगा सकता—अगर वह झगड़ों में उलझेगा तो निर्माण का काम रुक जाएगा, और अगर निर्माण में लगेगा तो झगड़े अपने आप पीछे रह जाएँगे। इसलिए अक़्लमंदी इसी में है कि झगड़ों को छोड़कर अपनी पूरी ऊर्जा विकास के काम में लगा दी जाए।

बड़ा दिल

लिंडन बी. जॉनसन (Lyndon B. Johnson) अमेरिका के 36वें राष्ट्रपति थे। उनका जन्म 1908 में हुआ और 1973 में निधन हुआ। वे अमेरिका को एक महान समाज (Great Society) बनाना चाहते थे और इसके लिए उन्होंने कई सुधार किए। उन्हीं में से एक था प्रवास (Immigration) के क़ानून में बदलाव।

जॉनसन ने शिक्षा और ज्ञान को सबसे अधिक महत्व दिया। उनका कहना था —"अमेरिका के भविष्य की सारी उम्मीदें शिक्षा पर आधारित हैं।"

(Learning is basic to our hopes for America.)

उस समय अमेरिका में बाहरी लोगों का स्वागत तो होता था, लेकिन सफेद और काले विशेषज्ञों के लिए नियम अलग-अलग थे। सफेद लोगों के लिए कानून नरम थे, जबकि काले लोगों के लिए बहुत सख्त थे। इस वजह से अमेरिका बहुत से योग्य लोगों की प्रतिभा से वंचित रह जाता था।

सत्ता में आने के बाद 1965 में जॉनसन ने इमिग्रेशन क़ानून बदल दिया। उन्होंने काले लोगों के आने पर लगी कानूनी पाबंदियाँ हटा दीं और कहा—"हमें लोगों की काबिलियत चाहिए, उनकी चमड़ी नहीं।"

(We need their skills and not their skins.)

यह एक मिसाल है जिससे पता चलता है कि इस दुनिया में बड़ी तरक्की पाने के

लिए इंसान को क्या-क्या करना पड़ता है। वह यह है कि वह लोगों की योग्यता देखे और बाकी सभी पहलुओं को नज़रअंदाज़ कर दे। जिनका ध्यान दूसरे पहलुओं में उलझा रहता है, वे कभी योग्य लोगों को अपने आसपास इकट्ठा नहीं कर सकते।

बड़ी सफलता के लिए बड़ा ज़र्फ (दिल) चाहिए होता है। सफलता का असली नियम एक वाक्य में है—जितना बड़ा ज़र्फ (दिल), उतनी बड़ी कामयाबी।

फ़र्क क्यों

यह घटना 1971 की है। मैं एक यात्रा के दौरान लाहौर (पाकिस्तान) में एक व्यक्ति के घर ठहरा था। यह एक बड़ा दो मंज़िला मकान था। एक रात वे मुझे छत पर ले गए। उस समय पूरा चाँद आसमान में चमक रहा था—दृश्य बहुत सुंदर था। हम दोनों उस दृश्य में खोए हुए थे कि अचानक मेरे मेज़बान ने कहा, "यही चाँद तो आपके देश में भी चमकता होगा।"

हम दोनों कुछ देर चुप रहे। मैंने मन में सोचा—कितनी अजीब बात है! चाँद हर देश में चाँद है, लेकिन इंसान हर देश में इंसान नहीं। एक व्यक्ति अपने देश में "देशवासी" समझा जाता है, लेकिन दूसरे देश में वह "बाहरी" हो जाता है।

चाँद का जिस तरह एक देश में स्वागत किया जाता है, उसी तरह दूसरे देश में भी किया जाता है। सूरज एक देश के लिए भी प्रिय है और दूसरे देश के लिए भी। मगर इंसान का हाल यह है कि एक जगह वह प्यारा होता है, दूसरी जगह नापसंद। क्यों? क्योंकि चाँद और सूरज अपनी फितरत (स्वभाव) पर कायम हैं, जबकि इंसान अपनी फितरत से भटक गया है।

सूरज और चाँद ऐसा नहीं करते कि एक देश में उजाला दें और दूसरे में अँधेरा। मगर इंसान एक क़ौम का दोस्त और दूसरी का दुश्मन बन जाता है। फूल सबको

खुशबू देता है, किसी को बदबू नहीं देता। मगर इंसान एक के लिए भला चाहता है, दूसरे के लिए बुरा। सितारे अपने-अपने रास्ते में चलते हैं, एक-दूसरे के दायरे में नहीं घुसते। मगर इंसान दूसरों के दायरे में दखल देता है। पेड़ हर देश में एक ही नियम से बढ़ता है, मगर इंसान एक के साथ न्याय करता है और दूसरे पर ज़ुल्म।

दुनिया की हर चीज़ इसलिए प्यारी है क्योंकि वो अपनी फितरत पर कायम है। इंसान जब अपनी असली फितरत को छोड़ देता है, तो अप्रिय हो जाता है। अगर इंसान भी अपनी फितरत पर बना रहे—यानी इंसानियत, न्याय और भलाई पर—तो उसे भी हर जगह वैसा ही सम्मान मिलेगा जैसा सूरज और चाँद को मिलता है।

प्रयास, नतीजा

टाइम पत्रिका के 23 दिसंबर 1991 के अंक की मुख्य कहानी सोवियत यूनियन के टूटने पर थी। इसमें उसके आखिरी राष्ट्रपति गोर्बाचेव का एक खास इंटरव्यू (exclusive interview) छपा था, जिसका नाम था एक आदमी बिना देश के (A Man without a Country)।

टाइम के 13 जनवरी 1992 के अंक में पढ़ने वाले की इस पर राय छपी। एक पाठक ने लिखा कि गोर्बाचेव की कब्र पर यह लिखा जाना चाहिए—यहाँ एक नेक और आदर्शवादी व्यक्ति दफ़्न है, जिसने सोवियत संघ में दमन और तानाशाही को समाप्त कर दिया, लेकिन वह यह समझ नहीं सका कि वही चीज़ें उस साम्राज्य को एक साथ बाँधे रखने का माध्यम थीं।

> The epitaph of the history of Mikhail Gorbachev may someday read: Here lies a good man and an idealist who abolished repression and tyranny in

> the Soviet Union, not comprehending that they were the glue holding that empire together. (George Podzamsky, Berwyn, Illinois)

यह बात बिल्कुल सही है। इससे सीख मिलती है कि किसी काम का नतीजा हमारी चाह से नहीं बल्कि हालात से तय होता है। गोर्बाचेव का कदम जो भी रहा हो, यह सीख बहुत जरूरी है कि कोई भी व्यक्ति या देश जब कोई काम करे तो यह समझ ले कि काम करना उसके हाथ में है, लेकिन उसका नतीजा उसके हाथ में नहीं। नतीजा कई बाहरी कारणों पर निर्भर करता है। अगर हालात साथ दें तो नतीजा अच्छा निकलता है, और अगर हालात खिलाफ़ हों तो अच्छा नतीजा निकलना संभव नहीं।

किसी काम का नतीजा हमारी इच्छा के अनुसार नहीं बल्कि हक़ीक़त के अनुसार निकलता है। यह ऐसा नियम है जिसे कोई बड़ी ताक़त भी नहीं बदल सकती। बाहरी सच्चाइयाँ हमेशा फैसला करती हैं, चाहे हमें यह बात अच्छी लगे या न लगे।

युद्ध और शांति

अल-रिसाला मई 1991 का अंक " खलीज डायरी" के नाम से प्रकाशित हुआ था। 2 फरवरी 1991 को मैंने अपनी डायरी में लिखा था कि इस युद्ध में जीत चाहे किसी भी पक्ष को मिले, आम लोगों की परेशानियाँ बहुत बढ़ जाएँगी। और ये परेशानियाँ दुनिया भर में फैल जाएँगी, यहाँ तक कि उस देश तक भी असर पहुँचेगा जो युद्ध के बाद खुद को विजेता समझेगा।

एक महीने बाद जब युद्ध बंद हुआ तो सचमुच ऐसा ही हुआ। युद्ध तो खत्म हो गया लेकिन समस्याएँ खत्म नहीं हुईं। टाइम मैगज़ीन (15 अप्रैल 1991) ने इस

पर एक विस्तृत रिपोर्ट प्रकाशित की, जिसमें बताया गया कि खाड़ी में जीत के बावजूद नई समस्याएँ पैदा हो गई हैं। टाइम ने लिखा है कि अमेरिका और उसके साथी अब एक नई मुश्किल का सामना कर रहे हैं।

America and its allies confront a new dilemma. (p.18)

इसके बाद टाइम के अगले अंक (6 मई 1991) में कुछ पाठकों के पत्र छपे। एक अमेरिकी पाठक ने लिखा कि ऐसा लगता है, बुश ने लड़ाई तो जीत ली, लेकिन खाड़ी में युद्ध हार गए।

> It Looks Like Bush has won the battle..... and lost the war in the Gulf. (Lloyed Ringuist, Marshfield, Wisconsin)

लड़ाई सिर्फ विनाश लाती है, वह निर्माण नहीं कर सकती। युद्ध के मैदान में जीत मिल सकती है, लेकिन असली जीवन में वह जीत खुशी नहीं देती। फिर भी लोग युद्ध की ओर क्यों भागते हैं? इसका कारण यह है कि युद्ध उन्हें बड़ी बात लगता है। जबकि असल में शांति बड़ी चीज़ है और युद्ध छोटी चीज़। अगर लोग इस सच्चाई को समझ लें तो हर व्यक्ति शांतिपूर्ण निर्माण की ओर दौड़ेगा और युद्ध का मैदान हमेशा के लिए खाली हो जाएगा।

युद्ध वीरता माना जाता है, लेकिन उसका कोई सकारात्मक परिणाम नहीं होता। शांति भले ही बाहर से साधारण लगे, लेकिन सारी बड़ी सफलताएँ हमेशा शांति के रास्ते से ही मिलती हैं।

एक घटना दो अंजाम

जनाब जमील अख्तर खान साहब सऊदी अरब के एक शहर में रहते हैं। उन्होंने 24 जनवरी 1992 को लिखे अपने पत्र में एक ऐसी घटना का उल्लेख किया

है, जिसे उन्होंने स्वयं अपनी आँखों से देखा था। यह घटना उनके अपने शब्दों में इस प्रकार है:

> "जुलाई 1991 की एक शाम थी। मगरिब की अज़ान हो चुकी थी। मैं कमरे से निकल रहा था। गेट के बाहर कुछ लड़के राहगीरों से छेड़छाड़ करते नज़र आ रहे थे। मुझे देखकर वे लड़के मेरी ओर दौड़े। उनके हाथ में खरगोश जैसा कोई जंगली जानवर था। वे मुझे डराने लगे। एक ने चाहा कि वह जानवर मेरे कंधे पर फेंक दे और तमाशा देखे। मैं समझ गया कि अगर इनसे उलझा तो अच्छा नहीं होगा। मैंने मन ही मन तय कर लिया कि वे चाहे जो शरारत करें, मैं कोई प्रतिक्रिया नहीं दूँगा। मैं तेज़ कदमों से मस्जिद की ओर चलता रहा। मेरी बेपरवाही देखकर उन लड़कों ने भी मुझे मेरे हाल पर छोड़ दिया, यहाँ तक कि मैं सुरक्षित मस्जिद पहुँच गया।

नमाज़ से फ़ारिग होकर जब कमरे की ओर लौट रहा था, तो एक और दृश्य सामने था। वही लड़के एक पाकिस्तानी मुसलमान से उलझ गए थे। उन्होंने वही जानवर उसके शरीर पर फेंक दिया। वह गुस्से में आ गया और एक लड़के को मार डाला। बस यहीं से लड़ाई शुरू हो गई। नतीजा यह हुआ कि दर्जन भर लड़के उस पर टूट पड़े। कोई उसके सिर पर मार रहा था, तो कोई पीठ को निशाना बना रहा था। एक ने पीछे से उसकी दोनों बाँहें पकड़ लीं, दूसरे ने सीने पर मुक्के बरसाने शुरू कर दिए। किसी तरह वह एक से छूटता तो दूसरा पकड़ लेता। मारते-मारते उसका बुरा हाल कर दिया। कोई भी उसे छुड़ाने की हिम्मत नहीं कर पा रहा था। तभी एक सऊदी व्यक्ति जो वहाँ से गुज़र रहा था, उसे तरस आया। उसने गाड़ी रोकी, बीच-बचाव किया और मामला खत्म कराया। पता नहीं उस बेचारे को कितने दिन तक चोट और दुख के साथ बिस्तर पर पड़े रहना पड़ा होगा।"

एक ही मामले में एक व्यक्ति की 'नज़रअंदाज़ करने की नीति' ने उसे सुरक्षित रखा, जबकि दूसरे को उसकी 'बेसब्री' ने भारी नुकसान पहुँचाया। अगर वह

सिर्फ़ कुछ क़दम तेज़ी से चलता तो अपने कमरे तक पहुँच जाता। आखिर वह कमरे में तो पहुँचा, लेकिन इस हाल में कि चोटों से चूर था। मैंने सोचा, अगर व्यक्तिगत मामलों में बेसब्री यह नतीजा दे सकती है तो सामाजिक मामलों में यह कितना बड़ा नुकसान पहुंचाएगी।"

कीमत ज़रूरी

एयरपोर्ट पर एक स्वचालित (आटोमेटिक) तराज़ू रखा था। उसमें एक रुपया डालने पर एक टिकट निकलता था जिस पर आदमी का वज़न लिखा होता था।

एक बच्चा उस तराज़ू पर चढ़ गया। उसके हाथ में एक रुपये का सिक्का था। उसने वह सिक्का मशीन के खाने डाल दिया। कुछ खटखट की आवाज़ आई और फिर एक कार्ड बाहर निकला जिस पर बच्चे का वजन साफ़-साफ़ लिखा था।

बच्चे को यह एक खेल जैसा लगा। उसने अपने माता-पिता से और सिक्के माँगे। वह यह काम बार-बार दोहराता रहा। हर बार जब वह सिक्का डालता, कुछ सेकंड बाद एक सुंदर कार्ड निकल आता। आखिरकार माता-पिता के सारे रुपये खत्म हो गए। अब उनके पास केवल पचास पैसे का सिक्का था। बच्चे ने वह पचास पैसे का सिक्का लिया और मशीन डाल दिया। इस बार आवाज़ तो आई, लेकिन कार्ड नहीं निकला। मशीन से कोई जवाब न मिलने पर बच्चा रोने लगा।

छोटा बच्चा इस बात को समझ नहीं पाया, लेकिन असल में यह रोने की नहीं, सोचने की बात थी। मशीन ने अपनी शांत भाषा में एक बहुत बड़ा पाठ दिया— यह कि इस दुनिया में हर चीज़ की एक कीमत होती है। अगर तुम क़ीमत नहीं चुकाओगे, तो तुम्हें वह चीज़ नहीं मिलेगी, चाहे तुमने पूरी क़ीमत से थोड़ा कम ही क्यों न दिया हो।

यही नियम इस दुनिया के लिए भी है और अगली दुनिया के लिए भी। दुनिया हो

या आख़िरत, इंसान किसी चीज़ को तभी पा सकता है जब वह उसके लिए पूरी क़ीमत चुकाए। जो व्यक्ति क़ीमत अदा करने से बचना चाहता है, उसे यह उम्मीद भी नहीं करनी चाहिए कि उसे अपनी मनचाही चीज़ हासिल होगी।

क़ीमत का नियम एक अटल नियम है—न किसी की ख़ुशफहमी (झूठे ग़ुमान) इसे बदल सकती है, न शिकायत और नाराज़गी इसे ख़त्म कर सकती है।

निर्माण की शक्ति

दूसरे विश्वयुद्ध से लेकर 1991 तक का समय अमेरिका और सोवियत यूनियन की शक्ति का युग था। इन दोनों साम्राज्यों को सुपर पावर कहा जाने लगा था। इसका कारण यह था कि इन्हीं दो देशों के पास सबसे अधिक परमाणु बम थे। परमाणु बमों की प्राप्ति ने उन्हें सुपरपावर बना दिया।

लेकिन जाँच-पड़ताल ने बताया कि परमाणु बम अपनी पूरी सैन्य शक्ति के बावजूद इस्तेमाल के योग्य ही नहीं हैं। पुराने ज़माने के हथियारों से सीमित विनाश होता था, लेकिन परमाणु बम का विनाश असीमित है। अगर इन्हें चलाया जाए तो विश्व स्तर पर बहुत तबाही होगी और जीतने वाला भी नष्ट हो जाएगा। इन कारणों से परमाणु बमों का प्रयोग मुश्किल या असंभव माना जाने लगा।

परमाणु बम और अन्य आधुनिक हथियारों की दौड़ में अमेरिका और सोवियत यूनियन दोनों की अर्थव्यवस्थाओं को बड़ा नुकसान हुआ। अमेरिका की आर्थिक हालत कमजोर हो गई—उदाहरण के तौर पर (उस समय) अमेरिका पर जापान का चालीस अरब डॉलर से ज्यादा का कर्ज है। सोवियत यूनियन की अर्थव्यवस्था पूरी तरह से ध्वस्त हो गई और उसका विशाल साम्राज्य भी बिखर गया।

1992 से आधुनिक इतिहास का एक नया दौर शुरू हुआ। इस नए दौर का

नतीजा, अमेरिकी पत्रिका Time (10 फ़रवरी 1992) के शब्दों में, यह है कि अब अमेरिका यह बात अब एक आम कहावत बनती जा रही है: “शीत युद्ध समाप्त हो गया, और जापान जीत गया।” अमेरिका की वैश्विक सैन्य भूमिका के पीछे जो तर्क थे, उनका बड़ा हिस्सा अब समाप्त हो चुका है। अब अमेरिका को विश्व की जटिल आर्थिक व्यवस्था में अपने लिए एक नई जगह तलाश करनी होगी।

अमेरिका अब भी दुनिया की सबसे शक्तिशाली अर्थव्यवस्था है, फिर भी उसे कहीं न कहीं यह महसूस होने लगा है कि उसकी शक्ति और प्रभाव पहले की तुलना में घट गए हैं:

> This is becoming a familiar line: “The Cold War is over, and Japan won.” Much of the rationale for America’s global military role is gone, and the U.S. must now find a new place in a complex world economy... America, still the most powerful economy, nonetheless feels itself to be somehow a diminished thing. (p.9)

युद्ध के समय वह राष्ट्र देश विश्व का नेता प्रतीत होता है जिसके पास विनाशकारी शक्ति होती है; लेकिन शांति के समय वह राष्ट्र देश नेतृत्व करता है जो दुनिया को शांति का उपहार दे सके।

दो तरह के नेता

जी. के. चेस्टरटन (G. K. Chesterton) इंग्लैंड के एक प्रसिद्ध लेखक थे। उनका जन्म 1874 में लंदन में हुआ और 1936 में निधन हुआ। उनका एक मशहूर कथन है:

> “There is a great man who makes every man feel

small. But the real great man is the man who makes every man feel great.”

(एक बड़ा आदमी वह है जो हर व्यक्ति को यह महसूस कराए कि तुम छोटे हो, लेकिन वास्तव में बड़ा आदमी वह है जो हर व्यक्ति को अपने अंदर महानता का एहसास दिलाए।)

नेता दो प्रकार के होते हैं। पहली किस्म के नेता वे होते हैं जो बड़े-बड़े मुद्दे लेकर उठते हैं, बड़े बड़े नारे लगाते हैं, और हमेशा चर्चा में बने रहते हैं। वे हर जगह दिखाई देते हैं, हर कोई उनका नाम लेता है, और हर मंच पर उनका स्वागत होता है। इस वजह से उनकी प्रसिद्धि बढ़ती जाती है। लेकिन ऐसे नेता आम लोगों के जीवन में कोई वास्तविक परिवर्तन नहीं लाते।

दूसरी क़िस्म का नेता वह होता है जो सच्चे अर्थों में आम आदमी का भला चाहता है। वह हर व्यक्ति के दुख-दर्द को अपना समझता है। उसका स्वभाव उसे ऐसे कामों की ओर ले जाता है जो साधारण लगते हैं, लेकिन लोगों के लिए बहुत उपयोगी होते हैं। ऐसे कामों की चर्चा अखबारों के पहले पन्ने पर नहीं होती, न ही उसके लिए कोई प्रशंसा के गीत गाए जाते हैं।

ऐसे नेता को व्यक्तिगत प्रसिद्धि तो नहीं मिलती, लेकिन वह अपनी क़ौम के हर व्यक्ति को ऊपर उठाता है। वह हर व्यक्ति को अपने क्षेत्र में नायक बना देता है और उसके व्यक्तित्व को ऊँचा करता है।

महानता के उपासक लोग प्रायः पहले प्रकार के नेताओं की पूजा करते हैं, लेकिन मानवता के सच्चे हितैषी वही दूसरे प्रकार के नेता होते हैं—जो खुद को छोटा करके दूसरों को बड़ा बनाते हैं, जो खुद को नींव में रखकर दूसरों को मीनार की तरह ऊपर खड़ा कर देते हैं, और जो अपने त्याग से दूसरों के लिए सफलता के अवसर पैदा करते हैं।

ज़िंदगी और मौत

इंसान अपनी प्रकृति के अनुसार इस बात के लिए मजबूर है कि वह किसी को महानता का स्थान दे। यह इंसानी मनोकामना है। जो व्यक्ति अल्लाह को सबसे बड़ा मानता है, वह सच्चा मानने वाला है, और जो किसी और को बड़ा मानता है, वह शिर्क (बहुदेववाद) करने वाला है। क़ुरआन में बताया गया है कि पुराने समय के कुछ लोगों ने अपने धार्मिक नेताओं और साधुओं को ही अल्लाह का स्थान दे दिया था। (9:31) यह उदाहरण बताता है कि जब किसी समाज का पतन होता है, तो वह सच्चे विश्वास की जगह लोगों की पूजा करने लगता है।

जब कोई समाज जीवंत होता है, तो वह अच्छे विचारों और सही मूल्यों को अपनाता है। लेकिन जब वही समाज पतन की अवस्था में पहुँच जाता है, तो वह केवल अपने महापुरुषों की बातें दोहराने तक सीमित रह जाता है।

जीवंत समाज उद्देश्य और सिद्धांतों को महत्व देता है, जबकि पतनशील समाज केवल व्यक्तियों की पूजा में उलझ जाता है। जीवंत समाज वर्तमान में जीकर भविष्य का निर्माण करता है, जबकि जड़ हो चुका समाज अतीत में ही अटका रहता है।

जीवंत समाज सही बात सुनकर उस पर विचार करता है, जबकि पतनशील समाज तुरंत भड़क उठता है। जीवंत समाज वास्तविक मुद्दों पर काम करता है, जबकि जड़ समाज झूठे और निरर्थक विवादों में उलझा रहता है।

जीवंत समाज सबको अपना समझता है, जबकि पतनशील समाज हर किसी को विरोधी मानने लगता है। जीवंत समाज अपने भविष्य को स्वयं गढ़ता है, जबकि मरा हुआ समाज केवल शिकायतों में समय बिताता है।

जीवंत समाज की पहचान सहनशीलता है, जबकि पतनशील समाज असहनशीलता का शिकार हो जाता है।

जब किसी समाज के लोगों में मरे हुए समाज जैसी बातें दिखाई देने लगते हैं, तो

ज़रूरी है कि लोग फिर से सीखें, सोचें और खुद को सुधारें। उस समय सबसे बड़ा काम यही होता है कि लोगों में दोबारा जीने की भावना और आगे बढ़ने का हौसला जगाया जाए। तरक्की के समय समाज का काम आगे बढ़ना होता है, और गिरावट के समय उसका काम फिर से तैयार होना होता है। जब समाज ऊँचाई पर पहुँचता है, तो उसका अंत पास आता है, और जब वह नीचे गिरता है, तो असल में एक नए आरंभ की तैयारी करता है।

फितरत की ओर

एक मनोवैज्ञानिक ने कहा था कि तुम अपने दोस्त तो हर जगह पा सकते हो, लेकिन अपने दुश्मन हर जगह नहीं पा सकते—दुश्मन तुम्हें खुद बनाना पड़ता है।

> "You can meet friends everywhere, but you cannot meet enemies everywhere— you have to make them."

यह बात बिल्कुल सही है। सच यह है कि दोस्ती इंसान की सामान्य (स्वाभाविक) अवस्था है, जबकि दुश्मनी असामान्य अवस्था है। दो व्यक्ति अगर सामान्य तरीके से साथ रहें, तो उनकी प्रकृति उन्हें दोस्ती की ओर ले जाती है। दुश्मनी तभी शुरू होती है जब उनमें से कोई अपने बुरे कथन या कर्म से दुसरे शख्स को भड़का दे।

अगर किसी से तुम्हारी दुश्मनी हो जाए, तो उसे हमेशा रहने वाली चीज़ न मानो। प्रकृति के नियम के अनुसार दोस्ती स्थाई है और दुश्मनी अस्थायी। इसलिए कोशिश करो कि उस अस्थायी हाल को फिर से दोस्ती में बदल दो। अगर तुम समझदारी से ऐसा करोगे तो ज़रूर कामयाब होगे, क्योंकि दोस्ती इंसान की असली और स्थायी हालत है।

जब कोई व्यक्ति दुश्मनी से दोस्ती की ओर बढ़ता है तो पूरी प्रकृति उसका साथ देती है। उस समय वह अकेला नहीं होता—उसके चारों ओर की पूरी दुनिया उसकी मदद करती है। और जिस इंसान के साथ पूरी दुनिया का सहारा हो, उसे कोई हरा नहीं सकता।

इस दुनिया में सबसे ताक़तवर चीज़ फितरत (प्रकृति) है। जो स्वभाव अल्लाह ने किसी चीज़ में रख दिया है, उससे वह हट नहीं सकती। पत्थर, पेड़-पौधे, जानवर—सब अपनी तय की हुई फितरत के अनुसार चलते हैं, वे कभी उसका स्वभाव को नहीं बदलते । यही बात इंसान पर भी लागू होती है। इंसान के अंदर सबसे बड़ी शक्ति उसकी अपनी फितरत है। अगर तुम प्रकृति के अनुसार रास्ता अपनाओगे, तो तुम सबसे जिद्दी और कठोर इंसान के दिल को भी जीत सकते हो।

हिकमत (समझदारी) का तरीक़ा

इस दुनिया में बिना झगड़े के रहना मुमकिन नहीं होता। आप चाहें अपने लोगों में रहें या दूसरों में, आपके और दूसरों के बीच कभी-कभी झगड़े पैदा हो ही जाते हैं। इन झगड़ों को आप पूरी तरह रोक नहीं सकते, लेकिन आप शुरुआत में ही उन्हें खत्म करके बुरे नतीजे से बच सकते हैं।

कभी-कभी चुप रहना, अनदेखा करने की पालीसी (policy) ही झगड़ा खत्म करने के लिए काफी होती है। कोई आप को उकसाने वाली बात बोले, तो उसका सबसे अच्छा जवाब यह है कि आप शांत रहें और गुस्सा न हों, इस तरह आप पैदा हुए विवाद को पहले ही चरण में दबा देंगे।

कभी ऐसा होता है कि जो झगड़ा कर रहा हो वह आपकी इज़्ज़त को ठेस पहुँचाए और आपका सम्मान दांव पर लगाए; ऐसी स्थिति में सबसे बेहतर तरीक़ा यह है कि इंसान कोई कठोर कदम उठाने के बजाय यह सोचे कि सम्मान देने वाला भी

ख़ुदा है और उसे वापस लेने वाला भी ख़ुदा है। फिर किसी इंसान से झगड़ा करने का क्या अर्थ है? इस तरह की सोच अक्सर विवाद समाप्त कर देती है।

कुछ हालतों में लग सकता है कि सहन करना आपको नुकसान दे देगा, पर असल में चुनाव नुकसान और बेनुकसान के बीच नहीं होता, बल्कि कम नुकसान और ज़्यादा नुक़सान के बीच होता है। ऐसे मामलों में विवाद को पहले ही चरण में खत्म करना कम नुकसान देने वाला होता है, और विवाद को बढ़ाना ज़्यादा नुकसान वाला। फिर क्यों न इंसान ज़्यादा नुकसान वाले रास्ते को छोड़कर कम नुकसान वाले रास्ते को अपनाए। हम विवाद के पैदा होने को रोक नहीं सकते, लेकिन यह पूरी तरह हमारे हाथ में है कि अनदेखी का तरीक़ा अपनाकर अपने आप को विवाद की मुसीबत से बचा लें। हम ज़्यादा नुकसान की जगह कम नुकसान को मंज़ूर कर लें।

अख़लाक़ (नैतिकता) का फल

बदरुद्दीन अहमद (जन्म 1938) मुरादाबाद के रहने वाले हैं। उन्होंने मुरादाबाद के फ़साद के बारे में कई सबक़ लेने वाली घटनाएं बताईं। यह फ़साद 13 अगस्त 1980 को शुरू हुआ था और रुक-रुक कर अगले महीने तक जारी रहा।

फ़साद के दौरान कर्फ़्यू लगा हुआ था। हर तरफ़ ख़राब हालात थे। लोगों के घरों में खाने-पीने की चीजें खत्म हो गई थीं। बदरुद्दीन साहब ने बताया कि उस ज़माने में हम लोगों को दूध नहीं मिलता था। इसलिए हम लोग बग़ैर दूध की चाय और गर्म पानी पी लिया करते थे।

पुलिस के एक अफ़सर मिस्टर शर्मा ने एक मकान से पीतल के कुछ खिलौने (शो पीस) ख़रीदे। उसको इन खिलौनों पर पालिश करवाना था, वह पालिश के लिए बद्रुद्दीन साहब के यहां आया। उन्होंने खिलौनों पर पालिश कर दी, मगर उसका कोई पैसा नहीं लिया।

इस अख़्लाक़ का नतीजा यह हुआ कि पुलिस अफ़सर जब रोज़ाना राउंड पर निकलता तो बदरुद्दीन साहब के यहां अपनी गाड़ी रोक कर उतरता और हाल पूछता कि कोई परेशानी तो नहीं है। हमारी कोई ज़रूरत हो तो बताइए। इस तरह वह रोज़ाना कम से कम एक बार आता रहा।

एक दिन मिस्टर शर्मा आए तो बदरुद्दीन साहब अपने छोटे बच्चे (नजमुद्दीन अहमद) को गोद में लिए हुए थे। मिस्टर शर्मा ने पूछा कि यह बच्चा तो दूध पीता होगा? बदरूद्दीन साहब ने कहा, "हां"। मिस्टर शर्मा ने कहा कि फिर आपको दूध मिलने में कोई परेशानी तो नहीं? बदरूद्दीन साहब ने कहा कि परेशानी तो है, क्योंकि कर्फ़्यू लगा हुआ है। उसके बाद मिस्टर शर्मा चले गए। अगले दिन आए तो उनके साथ ग्लैक्सो मिल्क के दो डिब्बे भी थे। उन्होंने ये दोनों डिब्बे बदरुद्दीन साहब को देते हुए कहा, "यह आपके बच्चे के लिए मेरी तरफ़ से तोहफ़ा है।"

अख़लाक़ (नैतिकता) के भीतर अल्लाह ने सबसे अधिक प्रभावशाली शक्ति रखी है। यह शक्ति इतनी गहरी होती है कि वह किसी को भी अपने प्रभाव में ले सकती है। अख़लाक़ एक ऐसा ख़ामोश हथियार है, जो हर इंसान पर असर डालता है—यहां तक कि कट्टर दुश्मन पर भी।

मेहनत का करिश्मा

अख़्तर हुसैन ग़ाज़ी ख़ान का जन्म 1926 में ग़ाज़ीपुर में हुआ। 1957 से वे दिल्ली में रहने लगे। जब वे दिल्ली आए, तो उनकी कम पढ़ाई की वजह से उन्हें कोई अच्छा काम नहीं मिला। कई साल तक वे छोटे-मोटे काम करके थोड़ा-थोड़ा पैसा कमाते और बहुत सादा ज़िंदगी गुज़ारते रहे। ज़्यादातर दिन उनका और उनके परिवार का खाना बस चटनी और चावल या चटनी और दाल होता था। लेकिन आज वे नई दिल्ली के एक अच्छे फ़्लैट में रहते हैं। उनका फ़ोन नंबर था—387899।

1970 में वे अपनी पत्नी के साथ एक मस्जिद के छोटे से कमरे में रहते थे। उनके छह बच्चे हो चुके थे, मगर खाने-पीने और रहने का कोई सही इंतज़ाम नहीं था। कई महीनों तक उन्हें आधा पेट चटनी और चावल पर गुज़ारा करना पड़ा। एक दिन उनकी पत्नी दुखी होकर बोलीं, "इससे तो अच्छा है कि तुम कहीं से ज़हर ले आओ, ताकि हम सब मिलकर अपनी परेशानी खत्म कर लें।"

यह बात अख्तर हुसैन साहब के दिल पर बहुत गहरी लगी। उन्होंने सोचा, "मेरा यह हाल इसलिए है कि मैंने पढ़ाई नहीं की। अगर मेरे बच्चे भी अनपढ़ रहे तो उनका हाल भी मेरे जैसा होगा।" उन्हें इस्माइल मेरठी की किताब का एक शेर याद आया:

> जहाँ तक देखिए तालीम की फ़रमानरवाई (हुकूमत) है,
>
> जो सच पूछो तो नीचे इल्म है, ऊपर खुदाई है।

उन्होंने निश्चय किया कि "मैं अपने बच्चों को ज़हर नहीं दूँगा, बल्कि उन्हें शिक्षा दूँगा।" उस दिन से उनके अंदर एक नया जोश आ गया। कठिन हालात ने उन्हें मज़बूत बना दिया। वे रोज़ 16-16 घंटे तक मेहनत करने लगे, दिन-रात दौड़ते रहे ताकि अपने बच्चों की पढ़ाई का खर्च उठा सकें। 26 जून 1991 की मुलाक़ात में उन्होंने बताया, "कई साल तक मेरा हाल यह था कि मैं दिल्ली की सड़कों पर दीवाने की तरह दौड़ता रहता था, बस इतना कमाने के लिए कि मेरे बच्चों की पढ़ाई चल सके।"

जिन हालात ने अख्तर हुसैन साहब को मेहनती इंसान बना दिया, उन्होंने उनके बच्चों में भी वही लगन पैदा कर दी। हर बच्चा जी-जान से पढ़ने लगा, और हर साल अपनी क्लास में फर्स्ट आने लगा। लगभग बीस साल की इस लगातार मेहनत के बाद, आज उनके सारे बच्चे ऊँचे पदों पर पहुँच चुके हैं—यह है मेहनत का करिश्मा।

बुद्धिमानी

आज का समाज कितना बिगड़ गया है, इसे समझने के लिए एक घटना पढ़िए। इंडियन एक्सप्रेस (24 July 1987) के पृष्ठ 3 पर नई दिल्ली की एक खबर है, इसका शीर्षक था:

"Son Kills Mother as She Refuses to Pay 500."

खबर बताती है कि 21 July 1987 को दिल्ली के 23 साल के अशोक कुमार ने अपनी माँ शीला से 500 रुपये मांगे। जब माँ ने मना किया तो अशोक भड़क गया। घर में एक पत्थर की सिल रखी थी। अशोक ने वह सिल उठाकर माँ के सिर पर पटक दी। माँ का सिर फट गया और वह मर गई। बाद में अशोक ने माँ की लाश को लोहे के एक बक्से में बंद किया, उस पर ताला लगा दिया और खून के दाग़ साफ कर दिए। शाम को जब भाई-बहन आएं तो अशोक ने कहा कि माँ पंजाब चली गईं क्योंकि वहाँ से पिता की बीमारी की खबर आई थी। अगली सुबह जब बक्से से बदबू आने लगी तो बक्सा खोला गया और अंदर माँ की सड़ी हुई लाश मिली। अशोक ने हत्या कुबूल कर ली है और अब वह पुलिस की हिरासत में है।

ऐसी बर्बरता और दुराचरण वाले समाज में, अगर लोग नापसंद बातों से अनदेखी न करें और हर बात पर दूसरों से लड़ने-झगड़ने को तैयार रहें, तो उसका नतीजा अपमान और बरबादी के अलावा कुछ नहीं हो सकता। ऐसे माहौल में जो नेता उन्हें यह सिखाते हैं कि "डटकर अन्याय का मुकाबला करो", वे या तो सबसे बड़े पागल हैं या सबसे चालाक। क्योंकि कोई भी समझदार और होशमंद व्यक्ति ऐसे हालात में लड़ने-भिड़ने का सबक़ नहीं दे सकता।

मूर्ख व्यक्ति केवल खुद को देखता है, और बुद्धिमान व्यक्ति अपने साथ दूसरों को भी देखता है। इस भीड़-भाड़ भरी दुनिया में सफल वही होगा जो अपने साथ दूसरों का भी ख्याल रखे। जो सिर्फ अपने बारे में सोचे, वह कभी कामयाब नहीं होगा; उसकी ज़िन्दगी रास्ते में टकराकर नष्ट हो सकती है—यह जीवन की एक सच्ची बात है और यह बदलती नहीं।

बे-मसला इंसान

5 सितंबर 1986 को कराची एयरपोर्ट पर हाईजैकिंग की एक घटना हुई। यह पैन एम का जहाज़ था। इस घटना में जो लोग मारे गए उनमें से एक 24 साल की युवती नीरजा भनोट भी थी। वह इस अमेरिकी हवाई कंपनी में सीनियर फ्लाइट पर्सर (Senior Purser) थी। इस घटना के बाद उसके पिता हरीश भनोट ने एक विस्तृत याददाश्त लिखी जो हिंदुस्तान टाइम्स (5 अक्टूबर 1986) में छपी। इस लेख में श्री हरीश भनोट ने अपनी बेटी के बारे में जो बातें लिखीं, उनमें से एक यह थी कि नीरजा शुरू से ही बे-मसला (no-problem) लड़की थी—

Neerja was a no-problem child, right from day one.

आम तौर पर छोटे बच्चे घर में किसी न किसी तरह से परेशानी का कारण बनते रहते हैं। वे तरह-तरह से अपने माता-पिता को थका देते हैं। इसलिए ऐसा बच्चा जो हर हाल में संतुष्ट रहे और घरवालों के लिए कोई समस्या न बने, उसे बे-मसला बच्चा कहा जाता है। सबसे अच्छा बच्चा वही है जो बे-मसला हो। यही बात बड़ों के लिए भी सही है। वह व्यक्ति सबसे अधिक मूल्यवान है जो दूसरों के लिए परेशानी का कारण न बने, बल्कि सबके साथ शांति से रह सके। इस दुनिया में व्यक्तिगत शिकायतें होना तो अनिवार्य है, इसलिए सबसे व्यावहारिक रास्ता यही है कि इंसान खुद को बे-शिकायत बना ले।

यह मानवीय गुण आम जीवन के लिए भी बहुत ज़रूरी है, और आंदोलनों के लिए तो यह अत्यावश्यक है। इस दुनिया में वही आंदोलन सफल होता है जो अपने चारों ओर ऐसे लोगों को इकट्ठा कर सके जो समस्या पैदा करने वाले न हों, बल्कि समस्याओं से भरी दुनिया में भी ऐसे हों जैसे उन्हें किसी बात की शिकायत ही न हो। जो व्यक्ति बे-मसला हो वही दूसरों की मुश्किलें हल कर सकता है, और जो खुद मुश्किलों में उलझ जाए, वह दुनिया की मुश्किलों को बढ़ाएगा, न कि कम करेगा।

एकमात्र रास्ता

रिसाला (मार्च 1988) के एक सफरनामे में एक जापानी इंजीनियर शोगो कटाकुरा (Shogo Katakura) का ज़िक्र आया है जिनसे मेरी मुलाक़ात मालदीव में हुई थी। उन्होंने मेरे एक सवाल के जवाब में कहा कि जापान की ज़मीन और मौसम की हालतों ने जापान के लोगों में यह आदत डाल दी कि वे हमेशा नए-नए विचार खोजते रहें। वहां बार-बार मौसम बदलते हैं, भूकंप और तूफानों से बार-बार नए हालात पैदा होते हैं, इसलिए जापानियों को बार-बार यह सोचना पड़ता है कि बदले हुए हालात का सामना कैसे करें।

इन हालात ने जापानियों में हमेशा नए विचार ढूंढने की आदत डाल दी। यही आदत थी जिसने उन्हें दूसरे विश्व युद्ध में बर्बादी के बाद फिर से उठने में मदद दी। युद्ध के बाद उन्होंने नए हालात को देखकर अपने कामों के बारे में दोबारा सोचा और नई योजनाएं बनाईं। इस तरह उन्होंने पहले से भी ज़्यादा सफलता पाई।

एक अमेरिकी लेखक ने कहा कि जापानी लोग बदलते हालात के शिकार नहीं बने, बल्कि उन्होंने बदलाव पर काबू पा लिया।

> "They became the masters of change rather than the victims."

जीवन का सफर कभी सीधी और समतल राह पर नहीं चलता। जीवन हादसों और मुश्किलों से भरा है। ये हादसे और मुश्किलें इंसानों को भी आती हैं और कौमों को भी। यह खुद अल्लाह का बनाया हुआ नियम है, इससे कोई नहीं बच सकता।

ऐसी स्थिति में इंसान के लिए सफलता का केवल एक ही रास्ता है – कि वह कठिनाइयों के बावजूद अपना सफर जारी रखे, रास्ते के कांटों और पत्थरों के बावजूद मंज़िल तक पहुंचने का हौसला रखे।

हालात बदलने पर उनसे शिकायत न करें, बल्कि नए हालात के मुताबिक नई राह सोचें, और आप हमेशा सफल रहेंगे।

रुकावटें सीढ़ी हैं

26 मई 1987 को दिल्ली के अख़बारों ने अपने पहले पन्ने पर एक ख़बर को प्रमुखता के साथ प्रकाशित किया। यह ख़बर दिल्ली सीनियर सेकेंडरी स्कूल सर्टिफिकेट परीक्षा (कक्षा 12वीं, 1987) से जुड़ी थी।

> Delhi Senior Secondary School Certificate Examination, Class XII, 1987.

इस परीक्षा में जिन छात्रों ने सबसे ज़्यादा नंबर लिए, उनमें ज़्यादातर लड़कियाँ थीं। अखबारों के रिपोर्टरों ने इन टॉपर छात्रों से मिलकर उनके इंटरव्यू लिए और उन्हें तस्वीरों के साथ छापा।

इन होनहार छात्रों के जीवन में एक बहुत बड़ी सीख थी। ज़्यादातर टॉपर अमीर घरों से नहीं थे। असल में कई छात्रों को पढ़ाई में बड़ी मुश्किलों का सामना करना पड़ा। क्योंकि वे गरीब घरों से थे, इसलिए उनके पास पढ़ने की ठीक जगह नहीं थी, किताबें कम थीं, और आसपास का शोर उन्हें परेशान करता था। लेकिन उन्होंने इन सभी रुकावटों को पार कर लिया और अपने पसंदीदा विषयों में अच्छे नंबर हासिल किए।

> A common thread in the backgrounds of most toppers is that they do not come from affluent families. In fact, quite a few faced stiff resistance. to their academic pursuits due to a lack of space, books, and noise disturbances. However, they overrode these factors and achieved distinction in their subjects of interest. (*The Hindustan Times*, New Delhi, May 26, 1987)

असल में जब इंसान के पास बहुत सारी सुविधाएँ होती हैं तो वह बेफिक्र हो जाता है, और साधनों की कमी इंसान के मन में चिंता जगाती है। ज़रूरत से

ज़्यादा आराम इंसान को सुस्त बनाता है, और अभाव उसे मेहनती बनाता है। इसलिए देखा जाए तो वो इंसान ज़्यादा खुशकिस्मत है जो मुश्किलों में भी डटा रहता है। रुकावटें दरअसल इंसान के लिए सीढ़ियाँ हैं—बस शर्त यह है कि वह उन्हें सीढ़ी की तरह इस्तेमाल करना जानता हो।

एक घटना

यह बात 1940 की है। पूर्वी उत्तर प्रदेश के एक ज़मींदार को गाँव के मोची पर गुस्सा आ गया, क्योंकि मोची ने उसके जूते की मरम्मत करने में देर कर दी थी। ज़मींदार ने मोची को अपने घर बुलवाया। वह एक डंडा लेकर खड़ा था और उसने मोची से कहा कि अपना कुर्ता उतार दो। मोची ने तुरंत आदेश मान लिया। उसने न सिर्फ़ कुर्ता उतारा बल्कि चुपचाप अपनी पीठ ज़मींदार की ओर कर के बैठ गया ताकि ज़मींदार आसानी से उसे डंडे से मार सके।

शुरू में जब मोची सामने आया था तो ज़मींदार बहुत गुस्से में था, लेकिन जब मोची ने कुछ नहीं कहा और चुपचाप झुक गया, तो ज़मींदार को उस पर दया आ गई। उसने डंडा एक तरफ़ रख दिया और कहा—"जाओ, अब ऐसी गलती मत करना।"

अगर 1940 के समय को देखा जाए तो मोची पूरी तरह बेबस था, और ज़मींदार के पास पूरा अधिकार था। लेकिन फिर क्या चीज़ थी जिसने एक ताकतवर के ज़ुल्म से एक कमज़ोर को बचा लिया? यह था ज़मीर, जो अल्लाह ने हर इंसान के अंदर रखा है, चाहे वह अच्छा हो या बुरा। जब मोची ने नम्रता दिखाकर अपने को झुका दिया, तो ज़मींदार का गुस्सा ठंडा हो गया। अब उसका ज़मीर जाग गया, जिस पर गुस्से ने थोड़ी देर के लिए पर्दा डाल दिया था।

इसके उलट अगर मोची उस वक़्त ज़मींदार से बहस करता या विरोध करता, तो

ज़मींदार का गुस्सा बढ़कर उसके ज़मीर को दबा देता। इस तरह मोची उस मदद से वंचित हो जाता जो अल्लाह ने हर ज़ालिम के दिल में किसी न किसी रूप में मज़लूम के लिए रखी है। अल्लाह ने इस दुनिया का की व्यवस्था बड़ी हिकमत के साथ बनाई है। यहाँ हर इंसान के लिए किसी न किसी रूप में सहारा मौजूद रहता है, यहाँ तक कि उस समय भी जब वह देखने में पूरी तरह बेबस दिखाई देता है। बस ज़रूरत इस बात की है कि इंसान अपनी नादानी के कारण खुद को उस अंतिम सहारे से दूर न कर ले।

ज़मींदार के पास अगर अपनी ताक़त थी, तो मोची के पास अल्लाह की ताक़त थी—और अल्लाह की ताक़त के आगे कौन ठहर सकता है। हर इंसान के अंदर ज़मीर होता है, और यही ज़मीर अल्लाह की अदालत है। अपना मामला उसी अदालत में पेश कीजिए, फिर आपको किसी से ज़ुल्म की शिकायत करने की ज़रूरत नहीं पड़ेगी।

आसान तरीक़ा

प्रोफेसर रशीद अहमद सिद्दीक़ी (1892–1977) का जन्म जौनपुर में हुआ था। वे अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी में उर्दू विभाग के अध्यक्ष थे। उनकी पहचान ज़्यादातर एक हास्य लेखक के रूप में हुई। मज़ाहिया लेखन में वे उर्दू के प्रमुख लेखकों में गिने जाते हैं।

उनके एक साथी, आल अहमद सरवर ने एक लेख में लिखा है—“प्रोफेसर रशीद अहमद सिद्दीक़ी ने एक बार मेरा लिखा हुआ लेख मुझसे लेकर कहीं और छपवा दिया। मैं उसे ‘माहनामा उर्दू अदब’ में देना चाहता था। जब मैंने एतराज़ किया तो उन्होंने ध्यान नहीं दिया। फिर जब मैंने शिकायत की तो मुहर्रम का महीना बीत चुका था। राशिद साहब ने लिखा—मुहर्रम बीत चूका है, मातम बंद कीजिए।” (*क़ौमी आवाज़*, 22 अप्रैल 1990)

जवाब देने का यह तरीक़ा कई बार बहुत फायदेमंद होता है। समझदार बातों में सोच-समझकर जवाब देना सही होता है। लेकिन कई बार ऐसे मौक़े आते हैं जब हलके-फुल्के अंदाज़ में कही गई बात ज़्यादा असर करती है। ख़ास तौर पर जब दो लोगों या दो समूहों के बीच तल्खी बढ़ जाए, तो ऐसे समय में संजीदा (साफ़-सुथरा) मिज़ाह (हास्य) का तरीक़ा ज़्यादा अच्छा होता है। जब माहौल गरम हो, लोग गुस्से में हों, तब इंसान तर्क की बात नहीं समझता। उस समय सबसे अच्छा तरीक़ा यही है कि कोई प्यारी या हंसी वाली बात कहकर सबका ध्यान बदल दिया जाए।

यह तरीक़ा घर के माहौल में भी काम आता है, समाज में भी, और जब दो दलों में विवाद हो तब भी। अगर इंसान अपना संयम बनाए रखे और झुंझलाहट से ऊपर उठकर सोचे, तो उसे हर सख्त मौक़े पर कोई न कोई ऐसी बात मिल जाएगी जिससे वह लोगों का गुस्सा ठंडा कर सके।

अगर मज़ाक को आदत बना लिया जाए, तो यह अच्छी बात नहीं होती, लेकिन अगर उसे समझदारी और बुद्धिमानी के तौर पर इस्तेमाल किया जाए तो वही चीज़ पसंदीदा बन जाती है। क्योंकि कभी-कभी हंसी-मज़ाक़ की बात वह असर कर देती है जो गंभीर बात नहीं कर पाती।

ज़िंदगी का राज़

1947 में जब हिंदुस्तान को आज़ादी मिली, तो एक तरफ़ पाकिस्तान के लोग थे। उनके नेता मुहम्मद अली जिन्ना ने कहा कि हमें “कटा-पिटा और कीड़ों से खाया हुआ पाकिस्तान” (truncated and moth-eaten Pakistan) मिला है। उनके सपनों का पाकिस्तान ऐसा था जिसमें पूरा पंजाब, पूरा बंगाल और पूरा कश्मीर शामिल होता। इसलिए उन्हें जो पाकिस्तान मिला, वह उनकी उम्मीदों से कम लगा। दूसरी तरफ़ भारत के लोगों का भी यही हाल था। उनके मन में

"स्वतंत्र भारत" का जो सपना था, आज़ाद भारत उससे छोटा लगा। आज़ादी मिलने के बाद भी करोड़ों लोग यह महसूस करते रहे कि उन्हें उनका प्यारा भारत टुकड़ों में मिला है। उन्हें लगा कि जो उन्होंने चाहा था, असल में उन्हें उसका बहुत छोटा हिस्सा मिला है।

आज़ादी बेशक पाने के परिणाम पर खत्म हुई थी, लेकिन ऊपर बताए गए कारणों ने न पाने के एहसास को जगा दिया। दोनों देशों में यह अहसास और भी बढ़ा कि कुछ छिन गया है। नतीजा यह हुआ कि भारत और पाकिस्तान दोनों एक-दूसरे को अपना दुश्मन समझने लगे। दोनों इस कोशिश में लग गए कि या तो पुराने सपनों को हक़ीक़त बना लें, या कम से कम एक-दूसरे के खिलाफ़ क़दम उठाकर अपने अंदर की कमी और जलन को कम करें।

इसके उलट जापान की मिसाल है। दूसरे विश्व युद्ध ने उसका इलाका घटा दिया और उसकी आज़ादी भी छीन ली। लेकिन जापान के लोगों ने जो खो गया था उसे भूलकर, जो कुछ बचा था उसी पर मेहनत शुरू कर दी। परिणाम यह हुआ कि चालीस साल बाद जापान दुनिया के सबसे विकसित देशों में गिना जाने लगा। जबकि भारत और पाकिस्तान आज भी एक-दूसरे को अपनी स्थिति के लिए ज़िम्मेदार ठहराते हुए तनाव और संघर्ष की मानसिकता में जी रहे हैं।

ज़िंदगी का असली राज़ यही है कि जो कम पर राज़ी हो जाए, वही ज़्यादा पाता है। इस दुनिया में जो इंसान थोड़े में भी संतोष कर लेता है, वह आखिर में बहुत कुछ पा लेता है। और जो कम पर राज़ी नहीं होता, वह आख़िरकार ज़्यादा से भी महरूम हो जाता है।

हिकमत की बात

कांग्रेस के अध्यक्ष पी. वी. नरसिम्हा राव (P. V. Narasimha Rao) का एक साक्षात्कार (Interview) टाइम्स ऑफ़ इंडिया (1 जून 1991) में छपा था।

उन्होंने एक सवाल के जवाब में कहा कि भारतीय समाज अनेक जातियों और समुदायों का मिलाजुला समाज है, और समाज के हर हिस्से को आज़ादी और बराबरी के साथ जीने का हक़ मिलना चाहिए। भारत में साथ रहने का एक ही तरीक़ा है—एक-दूसरे के साथ मिलकर रहना।

> We have a plural society, and all segments of the society should exist in freedom and equality. The only way to exist in India is to co-exist.

यह बात बिल्कुल सही है। लेकिन इसका मतलब सिर्फ़ भारत तक सीमित नहीं है, बल्कि यह दुनिया के हर समाज पर लागू होती है। यह तरीक़ा पाकिस्तान और अफ़गानिस्तान के लिए भी सही है और यूरोप और अमेरिका के लिए भी। चाहे किसी परिवार का मामला हो या पूरे संसार का—इस ज़मीन पर जीवित रहने का एकमात्र तरीक़ा यही है कि हम एक दूसरे को सहन करें। अगर सहनशीलता और बर्दाश्त का तरीक़ा न अपनाया जाए तो इस ज़मीन पर न तो कोई परिवार टिक पाएगा और न ही कोई देश।

दुनिया में मतभेद होना उतना ही सामान्य है जितना इंसान का होना। जहाँ इंसान होंगे वहां मतभेद होंगे, चाहे वे एक ही धर्म या संस्कृति के हों या अलग-अलग धर्मों और संस्कृतियों के। ऐसी हालत में इंसान के पास दो में से एक रास्ता है। या तो वह मतभेदों को सहन करे, या फिर मतभेदों को न सहकर दूसरों से हमेशा लड़ता-झगड़ता रहे।

हमारे लिए चुनाव मतभेद और बिना मतभेद के बीच नहीं है, बल्कि मतभेद को सहन करने या सहन न कर के ख़ुद को नष्ट कर लेने के बीच है। अगर हम जीवन चाहते , तो वह केवल मतभेद सहन करने में ही मिल सकता है। इसके बाद दूसरी संभावना यह है कि लड़कर हम खुद को तबाह कर लें। इसके सिवा हमारे पास कोई तीसरा विकल्प नहीं है।

मक़सद का तक़ाज़ा

टाइम्स ऑफ़ इंडिया (26 मार्च 1987) के साथ एक विशेष अंक (The Times Offspring) प्रकाशित हुआ था। इस अंक में मशहूर अंग्रेजी लेखक खुशवंत सिंह का एक इंटरव्यू छपा था। उसमें एक सवाल और उसका जवाब कुछ इस तरह था।

Q: You are a media man. How is it that you are so against television, as you once mentioned in your 'Malice' column?

A: Well, I am against my viewing it. I had one set at my residence in Bombay. As a result, I could not concentrate on anything else. I would simply switch on the T.V. and see the program being transmitted, whatever nonsense it might be. So, I told the television company to take it back, since I prefer to read and write.

सवाल: आप मीडिया से जुड़े हैं। फिर आप टेलीविज़न के इतने खिलाफ़ क्यों हैं, जैसा आपने अपने 'Malice' कॉलम में लिखा था?

जवाब: हाँ, मैं टीवी देखने के खिलाफ़ हूँ। मेरे बंबई वाले घर में एक टीवी था। नतीजा यह हुआ कि मैं किसी और काम पर ध्यान नहीं दे पा रहा था। बस टीवी का बटन दबा देता और जो कुछ आता, उसे देखता रहता, चाहे वह कितना भी बेकार क्यों न हो। इसलिए मैंने कंपनी से कहा कि वह टीवी वापस ले जाए, क्योंकि मुझे पढ़ना-लिखना ज़्यादा पसंद है।

खुशवंत सिंह ने जो किया, उसे हमारी भाषा में तरजीह (अहमियत) देना कहते हैं—यानी किसी एक चीज़ को दूसरी पर ज़्यादा अहमियत देना। किसी भी

मक़सद वाले इंसान के लिए यह बहुत ज़रूरी होता है। अगर आपके सामने कोई लक्ष्य है, तो आपको बाक़ी सब चीज़ों से ध्यान हटाकर उसी पर लगाना चाहिए। यही सफलता की असली शर्त है, इसके बिना कोई बड़ा काम नहीं हो सकता।

कुछ पाने के लिए कुछ छोड़ना पड़ता है। अगर इंसान छोड़ने वाली चीज़ को न छोड़े, तो वह पाने वाली चीज़ भी नहीं पा सकता।

अध्याय 2

समझदारी के पन्ने

सोच का फ़र्क

फ्रेडरिक लैंगब्रिज (Frederick Langbridge) एक अंग्रेज़ी कवि थे। उनका जन्म 1849 में हुआ और 1923 में उनका निधन हुआ। उनका एक मशहूर शेर है—

दो आदमी एक ही खिड़की से बाहर देखते हैं,
एक को कीचड़ दिखता है और दूसरे को तारे:

Two men look out through the same bars;
one sees the mud, and one the stars.

यही बात एक फ़ारसी शायर ने और भी सुंदर ढंग से कही—

تفاوت است میانِ شنیدن من وتو
تو غلقِ باب و منم فتح باب می شنوم

मेरे और तुम्हारे बीच फ़र्क सुनने का है; एक ही आवाज़ आती है—
तुम उसे दरवाज़ा बंद होने की आवाज़ समझते हो, और मैं उसे दरवाज़ा खुलने की आवाज़ समझता हूँ।

पेड़ में काँटों के साथ फूल भी होते हैं। वैसे ही समाज में भी अच्छे और बुरे दोनों पहलू साथ-साथ होते हैं। हालात अगर बुरे लगें, तब भी उनके भीतर अच्छे मौक़े मौजूद रहते हैं। जो इंसान सिर्फ़ ऊपर-ऊपर देखता है, उसे सिर्फ़ मुश्किलें नज़र आती हैं, लेकिन जो गहराई से देखता है, वह उन्हीं हालात में आसानियाँ ढूंढ लेता है।

इस दुनिया में कीचड़ भी मौजूद है और सितारे भी। अंतर केवल नज़रिए का होता है—कुछ लोग केवल कीचड़ देखते हैं, जबकि कुछ सितारों पर नज़र रखते हैं। एक ही आवाज़ सबके कानों तक पहुँचती है, लेकिन नासमझ उसे बंद होते दरवाज़े की आहट समझता है, जबकि समझदार यह पहचान लेता है कि उसके लिए एक नया दरवाज़ा खोला जा रहा है।

सारे मसले इंसान के दिमाग में पैदा होते हैं और यहीं ख़त्म किए जा सकते हैं—बस ज़रूरत है सही सोच की। असल में यह दुनिया अक़्ल की परीक्षा है। जो अपनी अक़्ल का इस्तेमाल करता है, उसे रास्ता मिल जाता है, और जो नहीं करता, उसका अंजाम बर्बादी है।

समंदर में लहरें और तूफ़ान हैं, पर जो नाविक मंज़िल पाना चाहता है, वह इन्हीं लहरों से लड़कर आगे बढ़ता है। जंगल में झाड़ियाँ और दरिंदे होते हैं, जो जानवर जंगल में रहते हैं, उनके लिए इसके अलावा कोई और रास्ता नहीं है कि वे कांटेदार झाड़ियों और अपने दुश्मन जानवरों के बीच अपने जीने का तरीक़ा ढूंढें।

इंसानी समाज का भी यही हाल है। यहाँ अलग-अलग तरह के लोग रहते हैं, जिनके हित अक्सर एक-दूसरे से टकराते हैं। विभिन्न कारणों से लोगों के बीच असहमति और असंतोष पैदा होते रहते हैं, और इन्हें पूरी तरह समाप्त नहीं किया जा सकता। इसलिए इंसान के लिए सफल जीवन का वास्तविक रास्ता यही है कि वह "बावजूद" के सिद्धांत को अपनी नीति बनाए। अर्थात कठिनाइयों के बावजूद आगे बढ़ना, विरोध के बावजूद लोगों को अपना बनाना, और दुखों के बावजूद खुशी का रास्ता खोज लेना। यदि कोई दुश्मनी करे या साज़िश रचे, तब भी इंसान को यह विश्वास बनाए रखना चाहिए कि वह अपने अच्छे आचरण और सकारात्मक कर्मों से बुराइयों पर विजय पा सकता है।

इस दुनिया में इंसान को काँटों के बीच से हाथ बढ़ाकर फूल तक पहुँचना होता है। यहाँ बीमारियों के 'बावजूद' तंदुरुस्त रहना पड़ता है। उसी तरह इंसान को विपरीत हालात देखकर हिम्मत नहीं हारनी चाहिए। शिकायत और गुस्से में वक़्त बर्बाद करने के बजाय उसे हालात के साथ समझदारी से तालमेल बैठाना चाहिए। रास्ते के पत्थरों को पार करना चाहिए, और विरोधियों से झगड़ने के बजाय हिकमत से काम लेना चाहिए। जो कम मिलने पर भी राज़ी रहता है, उसे आगे चलकर ज़्यादा मिलता है। जो दुश्मनी पर सब्र करता है, उसके आज के दुश्मन कल उसके दोस्त बन जाते हैं।

उपाय, टकराव नहीं

मौलाना जालालुद्दीन रूमी (1207–1273) मुसलमानों में बहुत मान्य रहे हैं। क़रीब 26 हज़ार शेरों पर आधारित उनकी मशहूर मसनवी (एक काव्य-विधा) मुसलमानों के बीच अत्यधिक सम्मान और श्रद्धा की दृष्टि से देखी जाती है। यह मसनवी सदियों तक उलमा के बीच एक मार्गदर्शन पुस्तक के रूप में पढ़ी जाती रही है।

1258 तातारियों ने बग़दाद को नष्ट कर दिया और अब्बासी सल्तनत का अंत कर दिया। उस समय मौलाना रूमी लगभग पचास साल के थे। उन्होंने अपनी मसनवी में मुसलमानों को रूहानी और अच्छाई की सीख दी और उनके उत्थान की कोशिश की।

साथ ही उन्होंने अपने समय की समस्याओं का भी समाधान बताने की कोशिश की। अपनी फ़ारसी मसनवी में वे क़िस्सों और रूपक के ज़रिए बताते हैं कि ऐसे हालात में किस बात को करना चाहिए और किससे बचना चाहिए।

इसी सिलसिले में मसनवी की पहली किताब में शेर और खरगोश की एक शिक्षाप्रद कहानी है, उसका सार यह है:

जंगल में एक शेर था जो रोज़ शिकार करता और सब जानवर डर के साये में रहते। आखिरकार जानवरों ने शेर से कहा कि तुम हम पर हमला न करो, हम रोज़ एक-एक जानवर तुम्हें भेज देंगे।

इसके बाद हर दिन पर्ची निकाल कर तय होता कि आज कौन शेर का भोजना बनेगा और शेर को वह भेज दिया जाता। इससे जंगल में सुकून आ गया। एक दिन किस्मत से एक छोटा खरगोश चुना गया। उसने पहले से योजना बना रखी थी कि जब उसका नंबर आएगा, तो वह अपनी बुद्धिमानी से शेर को हरा देगा।

खरगोश तय समय से एक घंटा देर से पहुँचा। शेर बहुत भूखा था और देर से आने पर गुस्सा हो गया। खरगोश के छोटे होने से शेर का गुस्सा और बढ़ गया।

खरगोश ने नरमी और आग्रह से कहा कि आज तो दो खरगोश भेजे गए थे, लेकिन दूसरे शेर ने उसे पकड़ लिया। मैं किसी तरह भागकर यहाँ आया हूँ।

अब शेर खरगोश के बजाय दूसरे शेर पर भड़क उठा। उसने खरगोश से कहा कि उसे तुरंत उस शेर के पास ले चलो। खरगोश उसे घुमाते-फिराते एक कुएँ के पास ले गया और बोला, “वह रहा दूसरा शेर, आप स्वयं देख लीजिए।” शेर ने कुएँ में झाँका तो उसे पानी में अपनी ही परछाईं दिखाई दी। उसने समझा कि सचमुच वहाँ कोई दूसरा शेर मौजूद है। वह जोर से गरजा, और कुएँ के भीतर उसकी आवाज़ की गूँज सुनाई दी। शेर को लगा कि दूसरा शेर भी उसे ललकार रहा है।

अपने राज्य में किसी दूसरे शेर की मौजूदगी उसे बर्दाश्त नहीं हुई। क्रोध में आकर वह उस काल्पनिक शेर पर झपट पड़ा, लेकिन सीधे कुएँ में गिर गया और वहीं उसकी मृत्यु हो गई।

इस तरह से खरगोश ने चाल और बुद्धिमानी से बड़े दुश्मन का नाश कर दिया। मौलाना रूमी आखिर में कहते हैं कि उस खरगोश की समझदारी का जाल ही शेर का फंदा बन गया। कितना अजीब था वह खरगोश, जिसने एक शेर को मात दे दी।

यह कहानी के रूप में एक सीख थी जो मौलाना रूमी ने अपने समय के मुसलमानों को दी। उन्होंने मुसलमानों को लड़ाई या जंग के लिए नहीं उकसाया। उन्होंने यह नहीं कहा कि जंगल के सब जानवर मिलकर शेर पर हमला करें। अगर वे शेर को मार दें तो उन्हें बहादुर कहा जाएगा, और अगर शेर उन्हें मार दे तो कोई नुकसान नहीं, क्योंकि तब उन्हें शहीद माना जाएगा। मौलाना रूमी ने इसके उलट समझदारी और तदबीर का रास्ता बताया। उन्होंने मरने के बजाय जीने का तरीक़ा सिखाया। उनकी बताई हुई समझदारी में इंसान को शुरू में थोड़ा झुकना पड़ता है, लेकिन आखिर में वह ऊँचाई और जीत का बड़ा मुकाम पाता है।

मौलाना रूमी की यह सीख आज के समय में भी उतनी ही काम की है जितनी पहले थी।

दूसरा मौक़ा

रीडर्स डाइजेस्ट फरवरी 1987 में एक लेख प्रकाशित हुआ था, जिसका शीर्षक था: “अपनी ज़िंदगी को बदलने की हिम्मत करो।”

Dare to Change Your Life

इस लेख में कई ऐसी घटनाएँ दी गई हैं जिनमें एक व्यक्ति को शुरुआत में असफलता का सामना करना पड़ा। वह नुकसानों और समस्याओं से जूझ रहा था, लेकिन उसने हिम्मत नहीं हारी। एक मौक़ा खोने के बावजूद उसकी नज़र दूसरे मौक़े पर लगी रही। यह तरीक़ा सफल रहा। एक बार असफल होने के बाद उसने दूसरी बार सफलता हासिल की। लेख के अंत में लेखक ने लिखा है कि ज़िंदगी दूसरे मौकों से भरी हुई है। दूसरे मौक़े का उपयोग करने के लिए जो कुछ जरूरी है, वह केवल यह क्षमता है कि व्यक्ति उसे पहचान सके और हिम्मत से उस पर कार्य कर सके।:

> Life is full of second chances. All we need for a second chance is the ability to recognize it and the courage to act.

ज़िंदगी सेकंड चांस (दूसरे मौक़े) का इस्तेमाल करने का नाम है—यह एक ऐसी हक़ीक़त है जो व्यक्ति के लिए भी उतनी ही सही है जितनी क़ौम के लिए। पूरी तारीख़ इस हक़ीक़त की पुष्टि करती है। शुरूआत में इस्लाम को मक्का में मौक़ा नहीं मिल सका। उसके बाद इस्लाम ने मदीना के मौक़े का इस्तेमाल करके अपनी तारीख़ बनाई। पश्चिमी कौमें सलीबी जंगों (Crusades) में अपने लिए मौक़ा नहीं पा सकीं तो उन्होंने इल्मी मौकों का इस्तेमाल करके फिर से कामयाबी हासिल की, आदि।

मौजूदा दुनिया में अक्सर ऐसा होता है कि आदमी पहले मौक़े को खो देता है। कभी अपने अधूरे तजुर्बे की वजह से और कभी दूसरों की मुखालिफ़त की वजह

से। मगर पहले मौक़े को खो देने का मतलब एक मौक़ा खोना है, सारे मौक़े खोने का नहीं। पहला मौक़ा खोने के बाद अगर आदमी मायूस न हो तो जल्दी ही वह दूसरा मौक़ा पा लेगा और उसे इस्तेमाल करके फिर से अपनी मंज़िल तक पहुँच जाएगा।

जिन मौकों पर दूसरे लोग अधिकार जमा चुके हैं, उन्हें छीनने की कोशिश करना अक्लमंदी नहीं। अक्लमंदी यह है कि जो मौक़े अभी बाक़ी हैं, उन से फ़ायेदा उठाने की कोशिश की जाए।

टाइम्स ऑफ इंडिया 13 अप्रैल 1989 (पृष्ठ 4) में न्यूयॉर्क की डेटलाइन के साथ एक रिपोर्ट छपी है। इसका शीर्षक था—सुपर कंप्यूटर में अमेरिका से आगे बढ़ने के लिए जापान की कोशिश:

Japan’s bid to excel the US in supercomputers

रिपोर्ट में कहा गया है कि सुपर कंप्यूटर के क्षेत्र में अमेरिका का लंबा वक्त तक का दबदबा अब संदेहास्पद हो गया है। अमेरिका की एक कंपनी के विश्लेषकों ने अध्ययन करने के बाद यह घोषणा की है कि जापान का बनाया हुआ एक सुपर कंप्यूटर 1990 में बाज़ार में आ जाएगा। यह दुनिया की सबसे तेज़ काम करने वाली मशीन होगी। जापानियों ने इस नए कंप्यूटर का नाम SX-X रखा है। इसकी स्पीड इतनी ज़्यादा है कि वह एक सेकंड में वैज्ञानिक प्रकार के हिसाब के 20 बिलियन ऑपरेशन कर सकता है। यह जापानी कंप्यूटर अमेरिका के सबसे तेज़ कंप्यूटर से 25 प्रतिशत तेज़ है। इसके साथ ही इसकी एक और विशेषता यह है कि यह बेहतर स्वास्थ्य प्रदर्शन के साथ-साथ मुकाबले में सस्ता भी है।

इस सुपर कंप्यूटर की अहमियत सिर्फ वैज्ञानिक तलाश, तेल की तलाश और मौसम की भविष्यवाणी जैसी चीज़ों तक सीमित नहीं है, बल्कि इसे राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए भी बहुत अहम माना जाता है। क्योंकि यह परमाणु हथियारों की तैयारी में बहुत इस्तेमाल होता है। नए जापानी कंप्यूटर ने दुनिया को एक नए औद्योगिक दौर में पहुँचाया है। मौजूदा कंप्यूटर, जो कभी “आधुनिक” समझे

जाते थे, अब पारंपरिक और अनुकरणीय बनकर रह गए हैं। यहां तक कि जापान की इस खोज ने उसे खुद सैन्य क्षेत्र में भी बढ़त दे दी है।

अमेरिका ने "सुपर बम" बना कर 1945 में जापान को तबाह कर दिया था। लेकिन वह जापान से यह संभावना नहीं छीन सका कि वह "सुपर कंप्यूटर" बना कर फिर से नई ज़िंदगी हासिल कर ले और सिर्फ 45 साल के भीतर इतिहास का रुख मोड़ दे। तबाही, चाहे वह कितनी भी बड़ी हो, वह निर्माण के मौकों को खत्म नहीं करती, और निर्माण की ताक़त, फिर भी तबाही की ताक़त से ज़्यादा होती है।

कामयाबी का टिकट

अमेरिका में जो लोग एशियाई देशों से आए हैं, उन्हें आम तौर पर एशियाई अमेरिकी (Asian American) कहा जाता है। ये लोग ज़्यादातर 1965 के बाद अमेरिका आए। अमेरिका में इनकी संख्या करीब 2 प्रतिशत है। इनमें कुछ यहूदी हैं, कुछ बौद्ध हैं, कुछ कन्फ्यूशियस धर्म को मानने वाले हैं, और कुछ अन्य धर्मों से भी हैं।

अगर ये लोग अमेरिका में अपने भविष्य को इस तरह समझते कि उनके समुदाय का कोई व्यक्ति राष्ट्रपति बने, तो उन्हें यह लगता कि उनके लिए विकास के रास्ते बंद हैं। क्योंकि राष्ट्रपति बनने के लिए अमेरिका का जन्म से नागरिक (natural-born citizen) होना जरूरी है, और एशियाई लोग इस शर्त में नहीं आते। इस वजह से एशियाई आप्रवासियों ने या तो निराशा महसूस की, या फिर अमेरिकी संविधान में बदलाव की कोशिश की ताकि वे भी राष्ट्रपति पद के लिए योग्य हो सकें।

लेकिन एशियाई अमेरिकियों ने ऐसी मूर्खता नहीं की। उन्होंने अपनी वास्तविक परिस्थितियों के अनुसार अमेरिका को समझा। उन्हें दिखाई दिया कि यहाँ उनकी

जैसी अल्पसंख्या के लिए भले ही राष्ट्रपति के पद तक पहुँचने का अवसर नहीं है, लेकिन उच्च शैक्षिक पदों तक पहुँचने के अवसर पूरी तरह मौजूद हैं। उन्होंने महसूस किया कि शिक्षा उनके लिए सफलता का टिकट है। उन्होंने अपनी पूरी ताकत शिक्षा प्राप्त करने में लगा दी और उन्हें शानदार सफलता मिली। इसके परिणामस्वरूप, संख्या में सिर्फ 2 प्रतिशत होते हुए भी वे उच्च शिक्षा संस्थानों में 20 प्रतिशत सीटों पर क़ब्ज़ा कर लिया।

यही दुनिया में सफलता प्राप्त करने का तरीक़ा है। इस दुनिया में हमेशा कुछ मौक़े खुले होते हैं और कुछ बंद। सबसे समझदारी की बात यह है कि इंसान खुले हुए रास्तों का फायदा उठाकर आगे बढ़े। अगर वह बंद रास्तों पर अपना सिर मारेगा, तो दरवाज़ा नहीं खुलेगा, लेकिन उसका सिर जरूर टूट जाएगा। खासतौर पर आजकल के समय में शिक्षा सफलता का असली टिकट है, और यह टिकट हर किसी के लिए हर जगह उपलब्ध है।

यह सिद्धांत केवल व्यक्ति की सफलता तक सीमित नहीं है, बल्कि देशों और राष्ट्रों की उन्नति पर भी समान रूप से लागू होता है। इस संदर्भ में जापान एक प्रेरणादायक उदाहरण प्रस्तुत करता है।

जापान पर एक अमेरिकी लेखक की प्रसिद्ध पुस्तक प्रकाशित हुई, जिसका शीर्षक ‘Japan as Number One’ है। इस पुस्तक में लेखक ने बताया है कि द्वितीय विश्व युद्ध में पूरी तरह पराजित होने के बावजूद जापान ने स्वयं को इस प्रकार पुनर्निर्मित किया कि वह अपने विजेता अमेरिका के लिए भी चुनौती बन गया।

लेखक के अनुसार, जापानी लोग परिवर्तन को अपनाने और उससे लाभ उठाने की कला में माहिर हो गए, जबकि अनेक दूसरे देश परिवर्तन का सामना करने के बजाय उसके शिकार बन गए। विदेशी प्रभाव जहाँ कई देशों के लिए विनाश का कारण बने, वहीं जापान ने उन्हीं प्रभावों को अपनी शक्ति और प्रगति का माध्यम बना लिया:

> Thus, they became the masters of change rather than the victims. Other countries were devastated by foreign influence, but Japan was invigorated.
>
> Ezra F. Vogel, *Japan As Number One*
> Harvard University Press, London 1979, p. 256

लेखक के अनुसार, जापान की इस अद्वितीय सफलता का कारण यह था कि उसने युद्ध और राजनीति में हारने के बाद अपने क्षेत्र को बदल लिया और पूरी तरह से शिक्षा पर ध्यान केंद्रित किया। किताब के तीसरे अध्याय में लेखक ने बताया है कि जापान की वर्तमान सफलता का एकमात्र कारण अगर कुछ है, तो वह है जापानी लोगों का ज्ञान प्राप्त करने का अनंत उत्साह। इस विषय में लेखक ने लिखा:

> When a foreign visitor comes to Japan, most Japanese almost instinctively think, ''What can I learn from him?'' And the three million Japanese who now travel abroad each year look for little hints of new ideas they might apply at home. (p. 29)

जब कोई विदेशी जापान आता है, तो ज़्यादातर जापानी लगभग स्वाभाविक रूप से यह सोचते हैं: "मैं इससे क्या सीख सकता हूँ?" और हर साल 30 लाख जापानी जब विदेश यात्रा करते हैं, तो वे यह कोशिश करते हैं कि उन्हें कोई नया विचार मिले, जिसे वे वापस अपने देश में लागू कर सकें।

मिठास का इज़ाफ़ा

टाइम्स ऑफ़ इंडिया के परिशिष्ट (The Neighbourhood Star) 18-24 मार्च 1989 (पेज 6) में सबक़ हासिल करने लायक़ एक घटना छपी है। ईरान के

पारसी जब पहली बार भारत आए, तो वे भारत के पश्चिमी तट पर उतरे। उस वक़्त जाधव राणा गुजरात का राजा था। पारसी गिरोह का पेशवा राजा से मिला। और उससे दरख़्वास्त की कि वह उन लोगों को अपनी रियासत में ठहरने की इजाज़त दे। राजा ने इसके जवाब में दूध से भरा हुआ एक गिलास पारसी पेशवा के हाथ पर रख दिया। इसका मतलब यह था कि हमारी रियासत पहले से ही आदमियों से भरी हुई थी। इसमें और ज़्यादा लोगों के ठहरने की गुंजायश नहीं। पारसी ने लफ़्ज़ों में इसका कोई जवाब नहीं दिया। उसने सिर्फ़ यह किया कि एक चम्मच शक्कर लेकर दूध में मिलाया और गिलास राजा की तरफ़ लौटा दिया। यह इशारे की भाषा में इस बात की अभिव्यक्ति थी कि हम लोग आपके दूध पर क़ब्ज़ा करने के बजाय उसको मीठा बनाएंगे। हम आपकी रियासत की ज़िन्दगी में मिठास का इज़ाफ़ा करेंगे। इसके बाद राजा ने उन्हें गुजरात में ठहरने की इजाज़त दे दी।

इस बात को एक हज़ार साल हो गए हैं। इतिहास बताता है कि पारसियों के नेता ने जो बात कही थी, उसे पारसी क़ौम ने पूरा कर दिखाया। पारसी इस देश में मांग और एजीटेशन का झंडा लेकर खड़े नहीं हुए, बल्कि उन्होंने अपनी ख़ामोश मेहनत से इस मुल्क की तरक़्क़ी में इज़ाफ़ा किया। पारसियों ने दूसरों से ज़्यादा मेहनत की। वे शिक्षा, व्यापार और उद्योग में आगे बढ़े। उन्होंने मुल्क की दौलत और तरक़्क़ी को बढ़ाया।

इस देश में जहां बहुत से लोग लेने वाले गिरोह (taker group) की हैसियत रखते हैं, पारसियों ने अपने कामों के ज़रिए देने वाले गिरोह (giver group) का दर्जा हासिल किया है - यही ज़िन्दगी का राज़ है। इस दुनिया में देने वाला पाता है। यहां उस आदमी को सम्मानपूर्ण जगह मिलती है जो लोगों के 'दूध' में अपनी तरफ़ से 'मिठास' का इज़ाफ़ा करे। इसके उलट जिन लोगों के पास दूसरों को देने के लिए सिर्फ़ कड़वापन हो, उन्हें भी इस दुनिया में वही चीज़ मिलती है जो उन्होंने दूसरों को दी।

अगर आप कुछ पाना चाहते , तो दुनिया में 'डोनेशन कार्ड' लेकर निकलें। अगर आप 'चन्दे की रसीद बुक' लेकर निकले तो यहाँ आपको कुछ मिलने वाला नहीं।

मिस्टर पी. टी. मल्होत्रा (जन्म 1935) से 24 अगस्त 1988 को मुलाकात हुई। वे नई दिल्ली की साहित्य अकादमी में लगभग 30 साल से पब्लिकेशन मैनेजर के तौर पर काम कर रहे हैं। उन्होंने बताया कि एक दिन उन्हें ऑफिस में देर हो गई। जब वे घर जाने के लिए निकले, तो रात के 12 बज चुके थे। वे अपने स्कूटर पर जा रहे थे कि रास्ते में एक पुलिसवाले ने उन्हें रोक लिया और कहा:

"अपना ड्राइविंग लाइसेंस दिखाओ।"

मिस्टर मल्होत्रा ने जेब में हाथ डाला, तो ड्राइविंग लाइसेंस के साथ एक और कार्ड भी बाहर आ गया। पुलिसवाले ने दोनों कार्ड हाथ में लेकर पूछा,

"यह दूसरा कार्ड क्या है?"

असल में वह नेत्रदान का कार्ड (Eye Donor Card) था। इस कार्ड पर उस इंसान के दस्तख़त के साथ ये शब्द लिखे होते हैं:

> I have gifted my eyes to the nation. Kindly inform the nearest Eye Bank immediately on my demise and help them to fulfill my desire. Thanks.
>
> "मैंने अपनी आँखें राष्ट्र को दान कर दी हैं। कृपया मेरे निधन के तुरंत बाद निकटतम नेत्र बैंक को सूचित करें और मेरी इस इच्छा को पूरा करने में सहयोग दें। धन्यवाद।"

पुलिस का आदमी पहले बहुत रुखाई के साथ बात कर रहा था, मगर आँख के डोनेशन कार्ड को देखते ही उसका स्वर बदल गया। उसने आगे जाँच किए बिना कहा, 'जाइए, जाइए'।

आँख का डोनेशन मौजूदा ज़माने में एक सुकर्म समझा जाता है। टी. वी. पर उसकी अपील इन भावनात्मक शब्दों में आती है : 'दुनिया में एक ही चीज़ है जो केवल आप किसी को दे सकते हैं।' पुलिस वाले ने जब मिस्टर मल्होत्रा के पास आँख के डोनेशन का कार्ड देखा तो वह समझा कि यह एक शरीफ़ और

हमदर्द इंसान है। आँख के दान का कार्ड मल्होत्रा के लिए इस बात की पहचान बन गया कि वे दूसरों को देने वाले आदमी हैं। इस चीज़ ने पुलिस के दिल को उनके पक्ष में नर्म कर दिया।

इस दुनिया में वही इंसान कुछ पाता है जो दूसरों को देता है। जो दूसरों को कुछ देता है, उसे बदले में दूसरों से भी कुछ मिलता है। यहाँ तक कि अगर किसी ने अभी तक कुछ दिया नहीं है, बल्कि सिर्फ़ देने का इरादा ज़ाहिर किया है, तो भी वह पाने का हक़दार बन जाता है।

भविष्य पर नज़र

एक लैटिन लेखक प्यूबिलस साइरस (Publius Syrus) गुज़रा है। वह पहली सदी ईसा-पूर्व का है। उसका जन्म रोमन काल में शाम (सीरिया) के इलाके में हुआ और उसकी मृत्यु रोम में हुई। उसका एक कथन अंग्रेज़ी अनुवाद में इस तरह है:

> "The wise man guards against the future as if it were the present."
>
> (समझदार आदमी भविष्य की ऐसे तैयारी करता है जैसे वह वर्तमान हो।)

नादान आदमी की नज़र सिर्फ़ आज पर होती है, जबकि समझदार आदमी की नज़र भविष्य पर होती है। नासमझ इंसान आज के हालात में जब कोई परेशानी देखता है, तो उससे लड़ने के लिए तुरंत खड़ा हो जाता है। लेकिन समझदार आदमी समझदारी से काम लेता है—वह सोचता है कि अगर हम आज लड़ाई करें, तो उसका नतीजा कल क्या होगा।

मूर्ख इंसान आज को देखकर काम करता है, जबकि अक्लमंद इंसान भविष्य को ध्यान में रखते हुए अपने काम की योजना बनाता है।

हर काम अपने परिणाम के लिहाज़ से भविष्य से जुड़ा होता है। काम आज किया जाता है, लेकिन उसका असर और नतीजा बाद में सामने आता है। इसलिए किसी भी व्यावहारिक कदम को भविष्य के परिणामों को ध्यान में रखकर परखना चाहिए। आज की किसी कार्रवाई को सही या ग़लत ठहराने का निर्णय इस आधार पर होना चाहिए कि जब उसका अंतिम परिणाम सामने आएगा, तो वह किस रूप में प्रकट होगा।

एक व्यक्ति को एक भिड़ ने काट लिया। अब वह गुस्सा होकर ऐसा करे कि भिड़ों को सज़ा देने के लिए भिड़ के छत्ते में अपना हाथ डाल दे। अगर कोई आदमी ऐसा करे तो उसके बाद उसकी यह शिकायत ग़लत होगी कि पहले तो केवल एक भिड़ ने उसको मामूली तरीके पर काटा था, अब सैकड़ों भिड़ें उससे लिपट गईं और उसके सारे शरीर को डंक मार मार घायल कर दिया।

यह दुनिया समझदार लोगों के लिए है। नासमझ लोगों का हाल यह होता है कि वे बिना सोचे-समझे कोई काम कर बैठते हैं, और जब उसका बुरा नतीजा सामने आता है, तो उसके खिलाफ़ प्रदर्शन करने को तैयार हो जाते हैं।

'आज' का सही इस्तेमाल का मतलब यह नहीं कि आज को कुर्बान कर दिया जाए, बल्कि यह है कि आज का सही इस्तेमाल किया जाए। जो लोग इस बात को समझते हैं, वही इस दुनिया में बड़ी कामयाबी पाते हैं।

एक पश्चिमी विचारक ने कहा है:

> "A good soldier lives to fight for the second day."
>
> (अच्छा सिपाही पहले ही दिन लड़कर मरता नहीं, बल्कि ज़िंदा रहता है ताकि अगले दिन भी लड़ सके।)

यह बात सिर्फ़ बड़ी-बड़ी जंगों के लिए नहीं है, बल्कि रोज़ाना की ज़िंदगी में होने वाले आम टकरावों के लिए भी है। अगर किसी से आपकी अनबन हो जाए और आप तुरंत उससे आख़िरी लड़ाई के लिए तैयार हो जाएँ, तो आप अच्छे

सिपाही नहीं माने जाएँगे। ऐसे लोग अपनी ज़िंदगी में कोई बड़ी सफलता हासिल नहीं कर सकते।

इसकी वजह यह है कि अधिकांश हालात में आदमी 'पहले दिन' ज़्यादा प्रभावी लड़ाई लड़ने की पोज़िशन में नहीं होता। इसलिए समझदार वह है जो पहले दिन लड़ाई को एवॉइड करे; वह लड़ाई के मैदान से हट कर अपने-आप को मज़बूत और सुदृढ़ बनाने की कोशिश करे; ताकि या तो उसके मुक़ाबले में उसका विरोधी इतना कमज़ोर हो जाए कि वह लड़ाई के बिना हथियार डाल दे, या वह स्वयं इतना ताक़तवर हो जाए कि हर लड़ाई कामयाबी के साथ जीत सके।

इस उसूल की सबसे अच्छी मिसाल इस्लाम का इतिहास है। पैग़ंबरे इस्लाम (सल्ल०) ने अपनी पैग़ंबरी की ज़िंदगी का ज़्यादातर हिस्सा मक्का में बिताया। वहाँ आपके विरोधियों ने हर तरह का ज़ुल्म किया, लेकिन आपने कभी उनसे टकराव नहीं किया। आपने हमेशा सब्र और समझदारी से काम लिया है। जब आप मदीना की तरफ़ हिजरत कर गए और वहाँ भी दुश्मनों ने ज़ुल्म किया, तो आपने अपने लोगों को संगठित किया और उनसे जंग की। इसके बाद हुदैबिया के मौके पर आपने एक बार फिर जंग से बचने का विकल्प चुना। और फिर जल्दी ही वह वक़्त आया जब दुश्मनों ने बिना किसी लड़ाई के हथियार डाल दिए और अपनी हार मान ली।

'पहले दिन' आपने दुश्मन के विरुद्ध धैर्य से काम लिया। 'दूसरे दिन' आपने दुश्मन से सशस्त्र मुकाबला किया और उसके ऊपर कामयाबी हासिल की। हुदैबिया के 'दूसरे दिन' तो मुकाबले की नौबत ही नहीं आई। दुश्मन ने बिना मुकाबला किए हार मान कर अपने हथियार डाल दिए।

बीस साल बाद

"कोलंबस ने अमेरिका की खोज की"—इन छह शब्दों को कोई व्यक्ति छह सेकंड से भी कम समय में बोल सकता है। लेकिन इस घटना को सच बनाने के लिए क्रिस्टोफर कोलंबस (Christopher Columbus) को 20 साल की कड़ी मेहनत करनी पड़ी।

क्रिस्टोफर कोलंबस 1451 में इटली में पैदा हुए और 1506 में स्पेन में उनका निधन हुआ। अमेरिका की खोज दरअसल यूरोप के लिए पूर्व की ओर समुद्री रास्ता खोजने की कोशिश का एक सह-परिणाम (by-product) थी। कोलंबस ने 1484 में पुर्तगाल के राजा जॉन द्वितीय (John II) से इस यात्रा में मदद मांगी, पर राजा ने इसे बेकार समझकर मना कर दिया।

फिर कोलंबस ने केस्टिल (Castile) की रानी इसाबेला (Isabella) से सहायता मांगी, पर वहाँ से भी तुरंत कोई जवाब नहीं मिला। फिर भी उसने हार नहीं मानी। आठ साल की लगातार कोशिश के बाद रानी ने उसे जहाज़ और ज़रूरी सामान दे दिया। 3 अगस्त 1492 को उसने तीन जहाज़ों के साथ सफर शुरू किया, लेकिन वह उस बार अमेरिका के तट तक नहीं पहुँच सका। तमाम कठिनाइयों और परीक्षाओं के बावजूद कोलंबस ने अपनी कोशिश जारी रखी।

आख़िरकार चौथे सफर में 1504 में वह "नई दुनिया" की खोज में सफल हो गया। कोलंबस से पहले दुनिया दो हिस्सों में बँटी थी। उसकी खोज ने पुरानी और नई दोनों दुनियाओं को जोड़ दिया। यह एक महान खोज थी, लेकिन यह तभी संभव हुई जब कोलंबस और उसके साथियों ने बीस साल तक बिना हिम्मत हारे इस जोखिम भरे काम को पूरा किया।

यही इस दुनिया में सफलता का असली तरीक़ा है। हर बड़ी सफलता "बीस साल" की मेहनत मांगती है। इसके बिना कोई बड़ा काम नहीं हो सकता। हर

सफलता लंबे संघर्ष के बाद मिलती है। इंसान पहले कम पर संतुष्ट होता है, फिर धीरे-धीरे अधिक हासिल करता है।

नील पहला व्यक्ति था जिसने चाँद पर कदम रखा। 21 जुलाई 1969 को उन्होंने "ईगल" नाम के यान से उतरकर चाँद की सतह पर पैर रखा। उस वक्त धरती और चाँद के बीच सीधा संपर्क था। उन्होंने धरती पर जो पहला संदेश भेजा, वह था—"यह एक व्यक्ति का छोटा कदम है, लेकिन मानवता के लिए एक बड़ी छलांग।"

> That`s one small step for man, but one giant leap for mankind.

आर्मस्ट्रांग का मतलब था कि उनका चाँद पर उतरना भले ही एक व्यक्ति का कदम लगे, पर वह मानव इतिहास में एक नए युग की शुरुआत है। इससे साबित हुआ कि मनुष्य का चाँद पर पहुँचना संभव है। आगे चलकर यह खोज और बढ़ेगी, यहाँ तक कि एक दिन लोग एक ग्रह से दूसरे ग्रह तक वैसे ही यात्रा करेंगे जैसे आज धरती पर करते हैं।

हर बड़ा काम इसी तरह होता है। शुरुआत में एक या कुछ लोग मेहनत और बलिदान देकर कोई नई खोज करते हैं, जिससे इंसान के लिए एक नया रास्ता खुलता है। यह पहला कदम कठिन होता है, जैसे पहाड़ को हिलाना। पर जब वह उठ जाता है, तो बाद में सब आसान हो जाता है। फिर वही रास्ता खुल जाता है जिस पर लोग कारवाँ की तरह आगे बढ़ते हैं।

किसान जब ज़मीन में एक बीज बोता है, तो वह खेती की ओर उसका "छोटा कदम" होता है। लेकिन उसी कदम से उसकी खेती का सफर शुरू हो जाता है। यह चलता रहता है, जब तक कि उसके खेत में फसल लहलहा न उठे। यही नियम जीवन के हर क्षेत्र पर लागू होता है—चाहे वह खेती-बागबानी हो या कोई और काम।

चैलेंज, न कि ज़ुल्म

एडमंड बर्क (Edmund Berke) का कहना है कि जो व्यक्ति हमसे लड़ता है, वह हमारी नसों को मज़बूत करता है और हमारी क्षमता (skill) को तेज़ करता है। हमारा विरोधी (antagonist) वास्तव में हमारा मददगार होता है:

> He that wrestles with us, strengthens our nerves, and sharpens our skill. Our antagonist is our helper.

यही बात शेख सादी ने गुलिस्तां की एक कहानी में प्रतीकात्मक रूप से इस तरह कही है कि

> "क्या तुमने नहीं देखा कि जब बिल्ली मजबूर हो जाती है तो वह अपने पंजे से शेर की आँख निकाल लेती है।"

जब किसी की ओर से तुम्हारे खिलाफ़ कोई बात या घटना पेश आए, तो उसके दो अर्थ हो सकते हैं—एक यह कि तुम उसे "ज़ुल्म" समझो, और दूसरा यह कि तुम उसे "चैलेंज" (challenge) मानो। अगर तुम उसे ज़ुल्म समझते हो, तो शिकायत का मन पैदा होगा; लेकिन अगर उसे चैलेंज समझते हो, तो मुकाबले का हौसला जगेगा।

शिकायती सोच वाले को बस यह सूझता है कि वह सामने वाले के खिलाफ़ चिल्लाना शुरू कर दे, विरोध करे और सारे विरोध शब्द (protesting words) खर्च कर दे। लेकिन मुकाबले की सोच इंसान को कार्रवाई की ओर ले जाती है। वह हालात को समझता है और जवाबी तरीक़ा ढूंढने लगता है ताकि समझदारी और योजना के ज़रिए विरोधी की चाल को नाकाम कर सके।

शिकायत और विरोध का मन इंसान की बची हुई ताक़त को बेकार झगड़ों में बर्बाद कर देता है। जबकि चैलेंज का मन उसकी सोई हुई क्षमताओं को जगाता है, उसे नया हौसला देता है और इतना मज़बूत बना देता है कि कमज़ोर भी ताक़तवर पर भारी पड़ जाए—और बिल्ली भी शेर को पीछे हटने पर मजबूर कर दे।

यह दुनिया मुकाबले की दुनिया है। यहाँ शिकायत की सोच इंसान को तबाही की ओर ले जाती है, और योजना की सोच उसे तरक्की की ओर ले जाती है। मान लो तुम रास्ते पर चल रहे हो और एक झाड़ी के काँटे से तुम्हारा दामन उलझ जाता है, तो तुम क्या करते हो? तुम झाड़ी के खिलाफ "प्रदर्शन" (protest) नहीं करते, बल्कि सोचते हो कि कौन-सा तरीक़ा अपनाओ जिससे मसला हल हो जाए।

अक़्लमंद आदमी जानता है कि यही तरीक़ा उसे इंसानों के बीच भी अपनाना चाहिए। ज़िंदगी में ऐसा होता है कि किसी से टकराव हो जाए, किसी से तकलीफ़ पहुँचे, या यह लगे कि किसी ने तुम्हारा हक़ नहीं दिया। ऐसे हर मौक़े पर शिकायत के बजाय योजना और समझदारी का तरीक़ा अपनाना चाहिए।

ज़िंदगी का हर मसला एक "चुनौती" (challenge) है, किसी के ऊपर किसी का ज़ुल्म नहीं। अगर कोई मसला तुम्हारे सामने आए और तुम उसे "नाइंसाफ़ी" (injustice) समझो, तो तुममें शिकायत और मायूसी पैदा होगी। यह सोच इंसान को वहाँ तक पहुँचा देती है कि वह खुद को लाचार समझने लगे और मान ले कि इस माहौल में कुछ करना मुमकिन नहीं। शिकायत की सोच इंसान को मायूसी तक ले जाती है, और मायूसी की सोच आख़िरकार नफ्सियती ख़ुदकुशी (psychological suicide) तक ले जाती है।

इसके उलट, अगर जब भी कोई मसला आए, तुम उसे "challenge" समझो, तो यह तुम्हारी सोई हुई क़ाबिलियतों को जगाएगा। तुम्हारे अंदर परिस्थितियों से जूझने की ताक़त पैदा होगी। पहले जहाँ तुम्हारा ज़ेहन नकारात्मक (negative) दिशा में जा रहा था, अब वह पूरी तरह सकारात्मक (positive) दिशा में चलने लगेगा—यही एक शब्द में इस दुनिया में सफलता और असफलता का राज़ है।

इस दुनिया में जो व्यक्ति समस्याओं से शिकायत और विरोध को अपना आधार बनाता है, उसके लिए यहाँ बर्बादी के अलावा कुछ और नहीं होता। इसके विपरीत, जिस व्यक्ति का हाल यह हो कि समस्या आने के बाद उसका मन समाधान खोजने में लग जाए—वह ज़रूर सफल होगा। क्योंकि इस दुनिया में हर समस्या का एक हल है और हर कठिनाई की एक व्यवस्था है।

असाधारण मनुष्य

ब्रूस वैन वूर्स्ट (Bruce van Voorst) एक अमेरिकी पत्रकार थे जिन्होंने युद्ध संवाददाता (war correspondent) के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त की। उन्होंने Dominican Republic की लड़ाई, ईरानी क्रांति में शाह के खिलाफ युद्ध, इराक़-ईरान युद्ध और खाड़ी युद्ध (1991) में मैदान-ए-जंग से प्रत्यक्ष रिपोर्टिंग की।

टाइम मैगज़ीन (4 February 1991) में वैन वूर्स्ट के कुछ अनुभव प्रकाशित हुए। उन्होंने जो बातें कहीं, उनमें से एक बात युद्ध के समय सैनिकों की क़ाबिलियत (Quality) और ईमानदारी (Integrity) के बारे में थी। उन्होंने कहा कि जब युद्ध जारी होता है, तो सैनिक आश्चर्यजनक रूप से उच्च प्रदर्शन करते हैं। वे कठिनाइयों की परवाह किए बिना अपने कर्तव्य निभाते हैं। युद्ध में ये सैनिक साधारण नहीं होते, वे सभी असाधारण बन जाते हैं:

> In battle, there are no ordinary soldiers; they are all extraordinary. (p.4)

अमेरिकी पत्रकार ने जो बात सैनिकों के बारे में कही, वह हर व्यक्ति और हर मुक़ाबले पर समान रूप से लागू होती है। इंसान के भीतर जन्मजात असंख्य क्षमताएँ होती हैं। सामान्य परिस्थितियों में ये क्षमताएँ सोई रहती हैं, लेकिन जब कोई ख़तरा सामने आता है, जब चुनौती (challenge) की स्थिति पैदा होती है, तो अचानक उसकी सारी सोई हुई शक्तियाँ जाग उठती हैं। पहले अगर उसके "ऊर्जा केन्द्र" (power house) का सिर्फ एक बल्ब जल रहा था, तो अब उसके सारे बल्ब एक साथ जल उठते हैं।

अब उसकी बुद्धि गहरी सोच दिखाने लगती है। उसका शरीर नई ताक़त से सक्रिय हो जाता है। उसकी पूरी शख्सियत एक हीरो की तरह काम करने के लिए तैयार हो जाती है। चुनौती (challenge) कमज़ोर इंसान को ताक़तवर बना देता है। यह नादान को समझदार बना देता है। चुनौती (challenge) देखने में

रुकावट है, मगर अपने नतीजे के लिहाज़ से यह ऊँची तरक्की की सबसे बड़ी सीढ़ी है—मुक़ाबला आने से पहले हर इंसान साधारण होता है, मगर मुक़ाबले के बाद हर इंसान ग़ैर-मामूली (असाधारण) इंसान बन जाता है।

जहाँ "स्कोप" नज़र नहीं आता, वहीं असल में ज़्यादा "स्कोप" होता है। जहाँ बेशक मौक़े न दिखें, वहीं सबसे बड़े मौक़े छिपे होते हैं। एक नौजवान के कुछ रिश्तेदार अमेरिका में रहते थे। वे वहाँ गए, पढ़ाई की और 2 साल नौकरी भी की। फिर उन्हें ख़याल आया कि अपने देश लौटकर यहीं अपनी ज़िंदगी बनाएं, तो वे भारत वापस आ गए।

मुलाकात में उन्होंने कहा कि "भारत लौटकर मैं उलझन में पड़ गया हूँ। यहाँ सब कहते हैं कि मैंने बहुत नादानी की जो अमेरिका छोड़कर भारत आ गया। वहाँ तो तरक्की के बड़े मौक़े थे, यहाँ तो कोई स्कोप नहीं।"

मैंने कहा, "आपके दोस्त और रिश्तेदार उलटी बात कर रहे हैं। मैं कहता हूँ कि भारत में स्कोप नहीं, इसलिए यहाँ स्कोप है। भारत में तरक्की के सारे मौक़े हैं जो अमेरिका में हैं—बल्कि यहाँ आप और भी बड़ी तरक्की कर सकते हैं।"

असल में तरक्क़ी दो चीज़ों पर निर्भर करती है—एक बाहरी मौक़े (external opportunities) और दूसरे अंदरूनी संभावनाएँ (inner potentials)। बाहरी मौक़े वो हैं जो हमारे आस-पास की दुनिया में मौजूद हैं, और अंदरूनी संभावनाएँ वो हैं जो हमारे दिमाग़ और शरीर के भीतर खुदा ने रखी हैं।

ज़्यादातर लोग सिर्फ बाहरी मौक़ों पर नज़र रखते हैं, इसलिए कहते हैं कि "फलाँ देश में मौक़े हैं और फलाँ में नहीं।" लेकिन असली तरक्क़ी के लिए ज़्यादा अहमियत उन क्षमताओं की है जो हर इंसान को फितरत (प्रकृति) से मिली हैं, और कोई भी उनसे खाली नहीं।

जब ज़िंदगी की मुश्किलें इंसान को चुनौती (challenge) देती हैं, तो उसकी छिपी हुई ताक़तें उभरने लगती हैं। हालात का झटका उन्हें जगा देता है। यह जागृति इंसान की तरक्क़ी के लिए बहुत मायने रखती है। अमेरिका में स्कोप यह

है कि वहाँ बाहरी मौक़े मौजूद हैं, जबकि भारत में स्कोप यह है कि यहाँ चुनौती (challenge) की स्थिति मिलती है जो इंसान की फितरी ताक़तों को आख़िरी हद तक जगा देती है। और पहले स्कोप के मुक़ाबले यह दूसरा स्कोप बेशक ज़्यादा क़ीमती है।

समय का महत्व

लॉर्ड चेस्टरफील्ड (Lord Chesterfield) 1694 में लंदन में पैदा हुए और 1773 में वहीं उनका निधन हुआ। उन्होंने अपने बेटे फिलिप स्टेनहोप के नाम बहुत-से पत्र लिखे। इन पत्रों में जीवन में सफलता का तरीक़ा बताया गया था। बाद में ये पत्र छप गए।

एक पत्र में लॉर्ड चेस्टरफील्ड ने लिखा—“मैंने तुमसे कहा है कि तुम मिनटों की देखभाल करो, क्योंकि घंटे अपनी देखभाल खुद कर लेंगे।

> I recommended you take care of the minutes, for the hours will take care of themselves.

अगर तुम अपने मिनट बर्बाद न करो तो घंटे अपने-आप बर्बाद होने से बच जाएंगे, क्योंकि मिनट-मिनट के जुड़ने से ही घंटा बनता है। जिसने अंश का ध्यान रखा, उसने पूरे का भी ध्यान रखा, क्योंकि बहुत-से अंश मिलकर ही पूरा बनते हैं।

अधिकतर लोग ज़्यादा पाने की सोच में कम को भूल जाते हैं। वे बड़े लक्ष्य में इतने डूब जाते हैं कि छोटी बातों पर ध्यान नहीं देते। लेकिन आखिर में उन्हें कुछ भी नहीं मिलता। अपने मिले हुए समय का एक पल भी व्यर्थ मत जाने दो। पलों को उपयोग में लाकर तुम महीनों और सालों पर अधिकार पा सकते हो। अगर तुमने पलों को खो दिया, तो फिर महीने और साल भी खो दोगे।

अगर तुम रोज़ अपने एक घंटे में सिर्फ पाँच मिनट बर्बाद करते हो, तो दिन-रात में मिलाकर रोज़ दो घंटे व्यर्थ चले जाते हैं। महीने में साठ घंटे और साल में सात सौ बीस घंटे यूँ ही निकल जाते हैं। हर व्यक्ति इसी तरह अपने मिले हुए समय का बड़ा हिस्सा बेकार में गँवा देता है। अस्सी साल की उम्र पाने वाला व्यक्ति भी अपनी उम्र के चालीस साल सही तरह से उपयोग नहीं कर पाता।

समय तुम्हारा सबसे बड़ा धन है—इसे व्यर्थ मत जाने दो।

हर बड़ी सफलता, छोटी-छोटी सफलताओं का जोड़ होती है। छोटी सफलता से संतुष्ट रहो, फिर बड़ी सफलता खुद मिल जाएगी।

मौलवी लुत्फुल्ला एक साधारण अध्यापक थे। 1802 में मालवा के पुराने शहर धारानगर में पैदा हुए। उन्होंने किसी अंग्रेज़ी स्कूल में एक दिन भी नहीं पढ़ा, लेकिन उनकी आत्मकथा 1857 में लंदन से छपी। लंदन के प्रकाशक स्मिथ एल्डर एंड कंपनी ने इसका नाम रखा:

> Autobiography of Lutfullah: A Mohammedan Gentleman

इस किताब में एक अंग्रेज़ मिस्टर ईस्टविक की भूमिका भी शामिल है। उन्होंने भूमिका में लेखक की साफ-सुथरी अंग्रेज़ी की तारीफ़ की और यह देखकर आश्चर्य जताया कि एक भारतीय ने विदेशी भाषा में इतनी बड़ी किताब कैसे लिखी। मौलवी लुत्फुल्ला ने यह योग्यता कैसे हासिल की? इसका रहस्य इस कहावत में छिपा है—थोड़ा-थोड़ा मिलकर बहुत बन जाता है।

मौलवी लुत्फुल्ला ने अंग्रेज़ी भाषा पूरी तरह अपनी मेहनत से सीखी। वे ईस्ट इंडिया कंपनी के अंग्रेज़ अधिकारियों को हिंदी, फ़ारसी और मराठी सिखाते थे। उनके अंग्रेज़ छात्रों की संख्या सौ से अधिक थी। अंग्रेज़ों के संपर्क से उनमें अंग्रेज़ी सीखने का शौक पैदा हुआ। उन्होंने स्वयं अध्ययन शुरू किया और आठ साल की लगातार मेहनत से अंग्रेज़ी पर पूरा अधिकार पा लिया। उन्होंने अपनी किताब में लिखा—“इन आठ सालों में एक भी रात ऐसी नहीं गुज़री जब सोने

से पहले मैंने अंग्रेज़ी के दस शब्द याद न किए हों और डॉक्टर गिलक्रिस्ट की व्याकरण की किताब के कुछ पन्ने ध्यान से पढ़कर याद न किए हों।" "दस शब्द" देखने में बहुत कम लगते हैं, लेकिन जब यही अभ्यास आठ साल तक चलता है, तो वही व्यक्ति विदेशी भाषा में ऐसी किताब लिखता है कि अंग्रेज़ लोग भी उसकी भाषा की तारीफ़ करते हैं।

शेर का तरीक़ा

टाइम्स ऑफ इंडिया (18 मार्च 1991) में शेर के बारे में एक रिपोर्ट छपी थी। उसमें बताया गया कि शेर जंगल की घास पर चलना पसंद नहीं करते, क्योंकि उन्हें डर होता है कि कहीं कोई काँटा उनके नरम पैरों में न चुभ जाए। इसलिए वे हमेशा खुले रास्तों या सड़कों पर चलते हैं:

> Tigers hate to walk on the jungle grass for the fear of a thorn piercing their soft feet. Thus, they always walk on open paths and roads.

शेर और दूसरे सभी जानवर प्रकृति के विद्यालय के प्रशिक्षित हैं। वे हमेशा वही तरीक़ा अपनाते हैं जो उनके पैदा करने वाले ने उन्हें सीधे तौर पर सिखाया है। इसलिए यह कहना सही होगा कि शेर का यह तरीक़ा प्रकृति का पसंदीदा तरीक़ा है। शेर के लिए यह सावधानी उसकी प्रकृति में रखी गई है, और इंसान के लिए यही बात धर्म की भाषा में यूँ कही गई—"अपने बचाव का इंतज़ाम रखो।" (4:71)

अल्लाह ने इस दुनिया को एक खास उद्देश्य के साथ बनाया है। यहाँ साफ़ रास्ते भी हैं और काँटेदार झाड़ियाँ भी। ये काँटे हमेशा रहेंगे, इन्हें मिटाना संभव नहीं। अब इंसान को वही करना है जो जंगल का शेर करता है—यानी काँटों से बचते हुए साफ़ और खुला रास्ता चुनना और उसी पर आगे बढ़ना।

शेर जंगल की घास से बचते हुए चलता है, उसी तरह हमें भी इंसानों के झगड़ों और फसाद से बचते हुए अपनी ज़िंदगी का सफर तय करना चाहिए। हमें चाहिए कि अपने किसी काम से किसी को गुस्सा न दिलाएँ, और अगर कोई हमसे नाराज़ हो जाए तो सब्र और समझदारी से उसका गुस्सा ठंडा करें, और सूझबूझ से खुद को उनके क्रोध से बचाएँ।

"जंगल का राजा" जो करता है, वह कायरता नहीं बल्कि असली बहादुरी है। उसी तरह अगर कोई इंसान समाज में यही तरीक़ा अपनाए, तो वह भी कायर नहीं, बल्कि सच्चा बहादुर होगा। दूर रहकर चलने का तरीक़ा शेर का तरीक़ा है, न कि गीदड़ का। अल्लाह का यही नियम है—जो इंसानों पर भी लागू होता है और जानवरों पर भी—नापसंद बातों को नज़रअंदाज़ करते हुए अपनी ज़िंदगी की रचना करो।

गुलाब के फूलों का एक बगीचा है। जब तुम उसमें जाते हो, तो उसकी खूबसूरत पंखुड़ियाँ और खुशबू तुम्हें मोह लेती हैं। लेकिन साथ ही उसके काँटे तुम्हारे हाथ में चुभ जाते हैं या तुम्हारे कपड़े उस में फँस जाते हैं। अब दो रास्ते हैं—या तो तुम काँटों की मौजूदगी के लिए माली को दोष दो, या यह समझो कि यह प्रकृति का नियम है। अगर तुम माली को दोष दोगे तो तुम्हारे मन में शिकायत और नफरत पैदा होगी, लेकिन अगर इसे प्रकृति का हिस्सा समझोगे तो तुम काँटों से बचकर फूलों का आनंद लोगे। एक सोच से विरोध और शिकायत का भाव उठेगा, और दूसरी सोच से समझदारी और समाधान का भाव उठेगा।

भारत में बहुसंख्यक समाज की कुछ बातें अल्पसंख्यकों को परेशान करती हैं। कई लोग इन्हें इंसानों की बनाई समस्या मानकर विरोध की नीति अपनाते हैं, लेकिन यह ठीक वैसा है जैसे गुलाब के काँटों के खिलाफ़ शोर मचाना। जैसे गुलाब में काँटे हमेशा रहेंगे, वैसे ही समाज में लोगों के बीच कुछ कड़वी बातें और मतभेद हमेशा रहेंगे।

इन कड़वी और अप्रिय बातों का हल सिर्फ एक है—उनसे बचना, उन्हें नज़रअंदाज़

करके अपनी ज़िंदगी का सफर जारी रखना। ऐसे सामाजिक हालात खुद अल्लाह की रचना का हिस्सा हैं, इसलिए उन्हें मिटाया नहीं जा सकता। लेकिन उनकी मौजूदगी को स्वीकार करके हम अपनी ज़िंदगी आगे बढ़ा सकते हैं।

मूर्ख इंसान विपरीत बातों में उलझता है, जबकि समझदार इंसान उनसे दामन बचाकर निकल जाता है। यही एक पंक्ति में इस दुनिया में असफलता और सफलता का राज़ है—उलझने का नतीजा असफलता है, और नज़रअंदाज़ करने का नतीजा सफलता।

खून की जगह पानी

मोहम्मद अफ़ज़ल लाडीवाला (35 वर्ष) मुंबई के रहने वाले हैं। 24 फरवरी 1991 की मुलाक़ात में उन्होंने अपना एक अनुभव बताया। 22 जनवरी 1991 को रंग भवन (धोबी तलाब) में एक सांस्कृतिक कार्यक्रम था। अफ़ज़ल साहब ने उसमें भाग लिया। रात साढ़े ग्यारह बजे कार्यक्रम समाप्त हुआ। वहाँ से निकलकर वे मुंबई वी.टी. पहुँचे और ट्रेन से कुरला आए। उस समय लगभग साढ़े बारह बजे थे। स्टेशन से घर (हिलाऊ पुल) तक लगभग 2 किलोमीटर का फ़ासला था। उन्होंने सोचा कि थ्री-व्हीलर से घर चले जाएँ। थ्री-व्हीलर के इंतज़ार में वे सड़क पर खड़े हो गए। तभी एक थ्री-व्हीलर आता हुआ दिखाई दिया। उस समय उनके मुँह में पान था। जल्दी में पान थूकते हुए उन्होंने आवाज़ लगाई, लेकिन संयोग से उसी समय एक यात्री पास से गुज़रा और पान उसके पैर पर जा गिरा।

वह आदमी तुरंत गुस्से से भर गया। उसने कहा, “पान खाते हो और खाने की तमीज़ भी नहीं।” लेकिन अफ़ज़ल साहब, जो अल-रिसाला के नियमित पाठक हैं, उन्होंने गर्म शब्दों का जवाब ठंडे शब्दों से दिया। उन्होंने कहा, “मैं अपनी ग़लती मानता हूँ। पान खाना भी ग़लत था और जो मैंने किया वह भी ग़लत था।” वह आदमी और भड़क गया, पर अफ़ज़ल साहब ने कहा, “मुझे माफ़ कर

दीजिए।” उस आदमी ने कहा, “अच्छा है, पहले किसी के साथ कुछ भी कर दो और फिर कह दो माफ़ कर दो।”

अफ़ज़ल साहब ने जवाब दिया, “भाई, मैं औपचारिक माफ़ी नहीं माँग रहा, मैं दिल से माफ़ी माँग रहा हूँ। अब आप मुझे अनुमति दीजिए कि मैं आपके पैर धो दूँ।” जब उन्होंने यह बात कही तो वह आदमी थोड़ा शांत हुआ। कुछ देर की बातचीत के बाद वह मान गया कि अफ़ज़ल साहब उसका पैर धो दें। पास ही एक चाय की दुकान थी। अफ़ज़ल साहब वहाँ गए और बोले, “चाचा, एक गिलास पानी देना।” जब वे गिलास लेकर लौटे, तब तक वह आदमी बिल्कुल शांत हो चुका था। उसने कहा, “मुझे दीजिए, मैं खुद अपने हाथ से धो लूँगा।”

उस आदमी ने गिलास लेकर पैर धोया। एक गिलास से पूरी सफ़ाई नहीं हुई तो अफ़ज़ल साहब तुरंत भागकर दूसरा गिलास पानी लाए। तब जाकर उसका पैर पूरी तरह साफ़ हुआ। यह घटना रेलवे स्टेशन के बाहर घटी। बातचीत के दौरान अफ़ज़ल साहब ने कहा, “भाई साहब, आप तो मुसलमान हैं; अगर आप गैर-मुसलमान भी होते तब भी मैं यही करता, क्योंकि इस्लाम हमें यही सिखाता है।” यह सुनकर वह आदमी भावुक हो गया। उसने कहा, “भाई, मैं मुसलमान नहीं हूँ, और मैं आप जैसे मुसलमान से पहली बार मिला हूँ। अगर दूसरे मुसलमान भी आपके जैसे हो जाएँ तो सारे झगड़े खत्म हो जाएँ।”

अब वह आदमी पूरी तरह बदल गया। पहले उसके अंदर गुस्सा और बदले की भावना थी; अब वह शर्मिंदा होकर बोला, “भाई, मुझे माफ़ कर दो, मैंने आपको तकलीफ़ दी, आपकी वजह से थ्री-व्हीलर भी छूट गया।” अफ़ज़ल साहब ने कहा, “मुझे शर्मिंदा मत कीजिए, गलती मेरी थी, और जो मैंने किया, वह मेरा फ़र्ज़ था।” यह घटना उस समय की है जब मुंबई के जोगेश्वरी इलाके में सांप्रदायिक तनाव था। यह इलाका कुरला से लगभग 15 किलोमीटर दूर है। अगर अफ़ज़ल साहब गुस्से का जवाब गुस्से से देते, तो वही होता जो कई जगहों पर हुआ—सांप्रदायिक दंगा और जान-माल की तबाही। शायद वे घर पहुँचने के बजाय अस्पताल पहुँचते और पूरा इलाका हिंसा की आग में जल उठता।

अफ़ज़ल साहब ने यह वाकया बताने के बाद कहा: उस वक़्त मुझे अल-रिसाला की बात याद आई। यह अल-रिसाला की दी हुई सोच का नतीजा था कि मैं उकसावे के मौक़े पर उकसाने से बच गया, और नतीजतन उसके बुरे अंजाम से भी बच गया। मेरे एक गिलास पानी ने सैकड़ों लोगों को उस भीषण अंजाम से बचा लिया, जिसमें उनका खून सड़कों पर बहाया जाता। कुछ शब्द ऐसे होते हैं जो इंसान के भीतर ग़ुस्से की आग भड़का देते हैं, और कुछ शब्द ऐसे होते हैं जो भड़कते हुए दिल को ठंडा कर देते हैं। शब्द कभी आग का काम करते हैं और कभी बर्फ़ का। अब यह बोलने वाले पर निर्भर है कि वह अपने शब्दों को आग बनाता है या मरहम।

आसान हल

अल्ताफ़ हुसैन हाली पानीपती (1837–1914) एक क्रांतिकारी सोच वाले व्यक्ति थे। उन्होंने उर्दू साहित्य में सुधार की लहर शुरू की। उन्होंने पुरानी उर्दू शायरी पर कड़ी आलोचना की और कहा कि उर्दू शायरी बढ़ा-चढ़ा कर कहने मुबालगा (अतिशयोक्ति), इश्क़-मोहब्बत और कल्पनिक खयालों का एक संग्रह है। इसके बजाय उसे उद्देश्यपूर्ण शायरी होना चाहिए। उन्होंने इसका एक उदाहरण खुद "मुसद्दस" की शक्ल में पेश किया।

हाली की यह आलोचना उन लोगों को बहुत बुरी लगी जो उर्दू शायरी पर गर्व करते थे और उसे अपनी शान समझते थे। नतीजा यह हुआ कि हाली के खिलाफ़ बहुत ही अपमानजनक लेख प्रकाशित होने लगे। लखनऊ का अख़बार "अवध पंच" अक्सर बेहद बुरे अंदाज़ में उनके खिलाफ़ लिखता और उसका शीर्षक इस तरह होता:

> अबतर हमारे हमलों से हाली का हाल है
> मैदान पानीपत की तरह पायमाल है।

हाली ने इन बेहूदा विरोधों का कोई जवाब नहीं दिया। वे चुपचाप अपना काम करते रहे। आखिर कुछ सालों बाद वे लोग थककर ख़ामोश हो गए। किसी ने हाली से पूछा कि आपके विरोधी कैसे चुप हो गए? उन्होंने किसी का नाम लिए बिना यह शेर कहा:

क्या पूछते हो क्योंकर सब नुक्ता-चीन हुए चुप,
सब कुछ कहा उन्होंने, पर हम ने दम न मारा

झूठे विरोध का सबसे आसान और असरदार जवाब यह है कि उसका कोई जवाब न दिया जाए। झूठा विरोध हमेशा बेबुनियाद होता है, इसलिए उसका अंजाम यही होता है कि वह अपने आप ढह जाता है। ऐसे विरोध का जवाब देना मानो उसकी उम्र बढ़ाना है। अगर इंसान सब्र करे तो बे-जड़ पेड़ की तरह एक दिन वह खुद गिर जाएगा। वह कभी ज़मीन पर टिक नहीं सकता।

झूठ का सबसे बड़ा विनाशक वक़्त है। आने वाले वक़्त का इंतज़ार कीजिए, और उसके बाद आप देखेंगे कि वक़्त ने उस फसाद को ज़्यादा पूरी तरह मिटा दिया है जिसे आप सिर्फ अधूरा मिटाने की कोशिश कर रहे थे। यह तरकीब किसी एक मामले से नहीं जुड़ी—जिस मामले में भी यह ख़ामोश इंतज़ार की नीति अपनाई जाएगी, आख़िरकार वह कारगर साबित होगी।

कुछ ईसाइयों ने दिल्ली के पुलों और दीवारों पर काले रंग में अंग्रेज़ी में यह वाक्य लिख दिया: Jesus is coming soon (मसीह जल्द आने वाले हैं)। इसके बाद कुछ हिंदू नौजवानों में प्रतिक्रिया का जोश पैदा हो गया। उन्होंने इस वाक्य के आगे हर जगह यह शब्द लिख दिया: "To become Hindu"। इस वाक्य की रचना बताती थी कि यह पढ़े-लिखे हिंदुओं का काम नहीं था, क्योंकि अंग्रेज़ी के लिहाज़ से सही वाक्य यह होना चाहिए था: To become a Hindu.

अगर इसी तरह की घटना किसी शहर में मुसलमानों के साथ होती, तो कुछ सतही लोग तुरंत कहते कि यह पैग़ंबर की तौहीन है, यह मुसलमानों की दिल-आज़ारी है, यह हमारी क़ौमी इज़्ज़त को चुनौती है। उसके बाद कुछ मुस्लिम नौजवान भड़क उठते और जवाबी कार्रवाई करते, और शहर में हिंदू-मुस्लिम

दंगा हो जाता। फिर कुछ नाम के नेता बयान देकर प्रशासन की निकम्मेपन को साबित करते, राहत कोष (Relief Fund) खोलकर कुछ लोग “मिल्ली सेवाओं” का श्रेय लेते, मुसलमानों के अख़बारों में गर्म-गर्म सुर्खियाँ छपतीं, जिससे उनकी बिक्री बढ़ जाती, और जहाँ तक आम मुसलमानों का सवाल है, उनके हिस्से में सिर्फ तबाही आती। मगर ईसाइयों ने इस “उकसाने वाली कार्रवाई” का कोई ध्यान नहीं दिया। नतीजा यह हुआ कि यह घटना बस एक महत्वहीन घटना (non-event) बनकर रह गई।

19 फरवरी 1990 की सुबह मैं ओबेरॉय होटल (नई दिल्ली) के पास फ्लाइओवर (Flyover) पर खड़ा था और उसकी दीवारों पर यह नज़ारा देख रहा था। पुल के दोनों तरफ़ चौड़ी सड़क पर गाड़ियाँ तेज़ी से चल रही थीं। किसी के पास यह फुर्सत नहीं थी कि रुककर पुल की दीवारों पर लिखे इन शब्दों को पढ़े। ये शब्द बस दीवारों पर एक नज़र-अंदाज़ किए जाने वाले निशान की तरह थे, जो सिर्फ इस बात का इंतज़ार कर रहे थे कि बारिश का पानी और हवाओं का झोंका उन्हें मिटा दे—इससे पहले कि कोई उन्हें पढ़े या उनसे कोई असर ले।

जो “उकसाने वाली हरकतें” इतनी महत्वहीन और बेमानी हों, उन पर भड़ककर फसाद खड़ा करने वाले लोग बेशक सबसे बड़े नादान होते हैं।

ज्ञान का महत्व

थॉमस जेफरसन (Thomas Jefferson) अमेरिका के तीसरे राष्ट्रपति थे। उनका जन्म 1743 में हुआ और 1826 में उनका निधन हुआ। वे 1801 से 1809 तक अमेरिका के राष्ट्रपति रहे। जेफरसन अत्यंत योग्य व्यक्ति थे। वे अंग्रेज़ी, लैटिन, यूनानी, फ्रेंच, स्पेनी, इतालवी और एंग्लो-सैक्सन भाषाएँ जानते थे। इतिहासकारों ने उनके बारे में लिखा है कि वे असाधारण रूप से विद्वान व्यक्ति थे।

> He was an extraordinary, learned man (*Encylopedia Britannica*, Vol. 10, p. 130).

उन्होंने अपने लंबे जीवन में दर्शनशास्त्र और विज्ञान से लेकर धर्म तक लगभग सभी विषयों का गहरा अध्ययन किया। अपने जीवन के अंतिम दिनों में उन्होंने बाइबल का विश्लेषण करने की कोशिश की ताकि यह पता चल सके कि यीशु ने वास्तव में क्या कहा था और लोगों ने उनके बारे में क्या कहा।

> He attempted an analysis of the New Testament to discover what Jesus really said, as distinguished from what he was reported to have said.

जेफरसन ने अपनी वसीयत में कहा था कि उनकी मृत्यु के बाद उनकी कब्र पर जो पत्थर (कत्बा) लगाया जाए उसमें यह न लिखा जाए कि वे अमेरिका के राष्ट्रपति थे, बल्कि यह लिखा जाए कि वे वर्जीनिया विश्वविद्यालय के संस्थापक थे। उनकी इच्छा के अनुसार, उनकी कब्र (Monticello) पर यह शब्द अंकित हैं:

> "Here was buried Thomas Jefferson...father of the University of Virginia." (*Encyclopedia Britannica*, खण्ड. 10, पृष्ठ 131).

वास्तव में, ज्ञान सबसे बड़ी संपत्ति है। जो लोग ज्ञान के महत्व को समझ लेते हैं, उन्हें अमेरिका के राष्ट्रपति पद जैसी ऊँची पदवी भी छोटी लगती है। ज्ञान ऐसी संपत्ति है जिससे मनुष्य कभी ऊबता नहीं, जिसकी कोई सीमा नहीं। ज्ञान हर क्षेत्र में उपयोगी है। यह सफलता की सीढ़ी है। ज्ञान से मनुष्य को वह चेतना मिलती है, जिससे वह संसार को समझ सके और बातों की गहराई में उतर सके। ज्ञान ऐसा सिक्का है जिससे आप संसार की हर वस्तु खरीद सकते हैं। ज्ञान हर प्रकार की उन्नति का रहस्य है—व्यक्ति के लिए भी और राष्ट्र के लिए भी। जिसके पास ज्ञान है, उसके पास सब कुछ है।

अब्दुर्रहमान अंतुले (बैरेस्टर एट लॉ और महाराष्ट्र के पूर्व मुख्यमंत्री) ने 5 फरवरी 1987 की एक भेंट में एक घटना सुनाई। यह लगभग 1954 की बात है जब वे लंदन की काउंसिल ऑफ लीगल एजुकेशन में कानून के विद्यार्थी थे। एक दिन उनके अंग्रेज़ प्रोफेसर ने एक कानूनी विषय समझाते हुए यह घटना बताई।

एक बड़ा औद्योगिक कारखाना अचानक बंद हो गया। वहाँ के इंजीनियर उसे चलाने में असमर्थ रहे। अंत में एक बड़े विशेषज्ञ को बुलाया गया। वह आया, उसने पूरे कारखाने का निरीक्षण किया और एक जगह रुक गया। उसने कहा कि एक हथौड़ा लाओ। हथौड़ा लाया गया तो उसने एक स्थान पर एक चोट की, और मशीन चलने लगी।

उस विशेषज्ञ ने बाद में 100 पाउंड का बिल भेजा। कारखाने के प्रबंधक को यह बहुत अधिक लगा। उसने पत्र लिखकर कहा कि आपने तो केवल एक चोट की, फिर इतना बड़ा बिल कैसे? कृपया विवरण दें।

> Please furnish my client with further and better particulars.

विशेषज्ञ ने उत्तर दिया: “99 पाउंड और 19 शिलिंग यह जानने के लिए हैं कि ख़राबी कहाँ है, और एक शिलिंग उस सही जगह पर हथौड़ा चलाने के लिए।”

> 99.19 to diagnose the disease and one shilling to pick up the hammer and to strike at the right spot.

इस संसार में सबसे अधिक मूल्य ज्ञान का है। यदि सौ में एक हिस्सा मेहनत का है तो बाक़ी निन्यानवे ज्ञान का मूल्य है।

महरूमी के बाद भी

सैम्युअल बटलर (Samuel Butler) उन्नीसवीं सदी के प्रसिद्ध अंग्रेज़ लेखक थे। उन्होंने लिखा है कि जीवन उस कला का नाम है जिसमें अधूरे कारणों से पूरे नतीजे निकाले जाएँ—

> “Life is the art of drawing sufficient conclusions from insufficient premises.”

सैमुअल बटलर ने यह बात अपनी समझ के आधार पर कही है, लेकिन ज़िंदगी के बारे में शरीअत ने जो बताया है, वह भी यही बात कहती है। कुरआन में बताया गया है कि इस दुनिया के सिस्टम में अल्लाह ने आसानी के साथ मुश्किल को जोड़ा है—"निश्चित रूप से हर कठिनाई के साथ आसानी है" (94:6)। एक बार रसूलुल्लाह (सल्ल०) ने एक पहाड़ी रास्ता देखा जिसका नाम लोगों ने "अज़-ज़ैक़ा" (कठिन) रखा था। आपने कहा, "नहीं, इसका नाम 'अल-युसरा' (आसान) है।" (*मग़ाज़ी अल-वाक़िदी*, खण्ड 3, पृष्ठ 925) मतलब इस्लाम की शिक्षा यह है कि इंसान मुश्किल में भी आसानी को ढूंढे, यानी कठिन रास्ते को आसान की नज़र से देख सके। पैग़ंबर मुहम्मद (सल्ल०) की ज़िंदगी इस बात की सबसे बड़ी मिसाल है। आपको बहुत सी सख्त परेशानियाँ आईं, लेकिन आपने समझदारी और हिम्मत से उन्हें अपने हक़ में आसान बना लिया। आपने नुक़सान की स्थिति को फ़ायदे में बदल दिया। एक विदेशी लेखक मिस्टर ई. ई. केलट ने आपकी इसी खूबी का ज़िक्र करते हुए लिखा है कि उन्होंने मुश्किलों का सामना इस इरादे से किया कि नाकामी से भी कामयाबी निकालें।

> "He faced adversity with the determination to wring success out of failure." (*A Short History of Religion*, p. 334)

दुनिया में एक तरफ़ इंसान है जो दूसरे इंसान के लिए मुश्किलें पैदा करता है, और दूसरी तरफ़ खुदा का बनाया हुआ सिस्टम है जिसने हर मुश्किल के साथ उसका हल भी रख दिया है। ऐसे में अगर कोई इंसान मुश्किलों पर शोर मचाए, तो इसका मतलब यह है कि उसने सिर्फ इंसान के काम को देखा, खुदा के काम को नहीं देखा। अगर वह खुदा के काम को देखता तो शिकायत करने के बजाय उसे काम में लाने की कोशिश करता। इस दुनिया में हर नाकामी के बाद एक नई कामयाबी की संभावना बनी रहती है। ज़रूरत सिर्फ इस बात की है कि इंसान उस मौक़े को पहचान कर फिर से खुद को कामयाब बना ले।

अल-रिसाला (दिसंबर 1988) में कनाडा के खिलाड़ी बेन जॉनसन की कहानी छपी थी, जिसका शीर्षक था "कृत्रिम सफलता"। दौड़ के अंतरराष्ट्रीय मुक़ाबले में उसने पहला स्थान पाया, लेकिन अगले ही दिन उसका गोल्ड मेडल छीन लिया गया और उस पर दो साल तक खेलों में हिस्सा लेने पर पाबंदी लगा दी गई। यह उसकी ज़िंदगी का बहुत बड़ा झटका था। लेकिन उसने "ज़ालिम जजों" के खिलाफ़ समय बर्बाद नहीं किया, बल्कि फिर से मेहनत करने की योजना बनाई।

इटली के टीवी नेटवर्क ने नवंबर 1988 में टोरंटो में बेन जॉनसन का इंटरव्यू लिया। टाईम्स ऑफ इंडिया (29 नवंबर 1988) के मुताबिक, इंटरव्यू में वह रोते हुए बोला कि उसने जानबूझकर खेल के नियमों का कोई उलंघन नहीं किया, और वह अब भी ट्रेनिंग कर रहा है। उसका सपना है कि 1992 में बार्सिलोना ओलंपिक में वापस लौटे। उसने कहा कि उसका रिकॉर्ड 13 साल की लगातार मेहनत का नतीजा था। वह बहुत दुखी था, और सीयोल ओलंपिक के बाद आए कठिन समय का ज़िक्र करते हुए फूट-फूट कर रो पड़ा। इंटरव्यू लेने वाले गियानी मीनोली (Gianni Minoli) ने बताया कि शूटिंग पाँच मिनट के लिए रोकनी पड़ी क्योंकि वह सिसकियों पर काबू नहीं रख सका। बेन जॉनसन ने कहा कि वह हफ्ते में छह दिन, रोज़ चार घंटे ट्रेनिंग कर रहा है। उसने कहा, "मेरा काम सिर्फ दौड़ना है, बैठ कर सोचने का नहीं। मेरी इच्छा है कि मैं फिर से मुकाबले में उतरूं। उन्होंने मुझसे मेरा गोल्ड मेडल लिया है, मेरी रफ्तार नहीं।"

They have taken away my gold medal, not my speed.

छीनने वाला आपकी कोई चीज़ छीन सकता है, लेकिन ख़ुद आप को नहीं। आपकी असली क्षमता और योग्यता फिर भी आपके पास रहती है। उसे काम में लाइए, और हर कमी के बाद अपनी नई कहानी खुद बनाइए।

भड़काइए नहीं

भारत में सबसे ज़्यादा शेर गिर के जंगल में पाए जाते हैं। यहाँ उनके लिए बहुत बड़ा खुला पार्क बनाया गया है जिसे गिर फॉरेस्ट सैंक्चुअरी (Gir forest sanctuary) कहा जाता है। बीसवीं सदी की शुरुआत में यहाँ बीस से भी कम शेर पाए जाते थे, मगर मई 1990 की गिनती के अनुसार अब वहाँ 280 शेर हैं। इन शेरों की वजह से इंसानी ज़िंदगी को खतरा पैदा हो गया है। टाइम्स ऑफ इंडिया (22 अगस्त 1990) की एक रिपोर्ट में बताया गया है कि पिछले दो बरसों में इन शेरों ने इलाके के 16 आदमी मार डाले और 140 आदमियों को घायल किया।

इन हादसों के बाद मिस्टर रवि चेलम की क़यादत में एक टीम को तय किया गया ताकि वह हालात के बारे में तहक़ीक करे। उन्होंने तहक़ीक के बाद यह बताया कि शेरों ने भले ही बहुत से इंसानों को नुक़सान पहुँचाया और उन पर हमले किए, मगर ये हमले सिर्फ़ शेरों की दरिंदगी की वजह से नहीं थे। रिसर्च करने वालों ने इंसान पर शेर के ज़्यादातर हमलों का कारण उकसाने को बताया है:

> The researchers have attributed most of the lion attacks on humans to the provocation of the animals.

शेर एक ख़ूनख़ार दरिंदा है। वह इंसान के लिए सबसे बड़ा ख़तरा है। मगर शेर अपनी सारी दरिंदगी के बावजूद अपनी फ़ितरत के अधीन रहता है। और उसकी फ़ितरत यह है कि वह उकसाए बिना किसी इंसान पर हमला नहीं करता।

यह कुदरत की निशानियों में से एक निशानी है जो यह बताती है कि "दरिंदा-सिफ़त इंसानों" के ज़ुल्म से कैसे बचा जाए। दरिंदा इंसान के ज़ुल्म से बचने की एक ही यक़ीनी तरकीब यह है कि उसे उसकी फ़ितरत के अधीन रहने दिया जाए। उकसाने से पहले हर इंसान अपनी फ़ितरत के मातहत रहता है, और उकसाने के बाद हर आदमी अपनी फ़ितरत की मातहती से बाहर आ जाता है। यानी

फ़ितरत खुद हर आदमी को ज़ुल्म और फ़साद से रोक रही होती है। ऐसी हालत में आपको जवाबी कार्रवाई करने की क्या ज़रूरत है?

उकसाए जाने से पहले शेर एक बेनुक़सान जानवर है। उकसाने के बाद शेर एक आदम-खोर जानवर बन जाता है। आप शेर को उकसाइए मत, और फिर आप उसके नुकसान से महफ़ूज़ रहेंगे।

नरमी और सब्र कोई बुज़दिली की बात नहीं, यह ज़िंदगी का एक अहम उसूल है जो खुद सृष्टि के बनाने वाले ने पूरी सृष्टि को सिखाया है। अरबी की एक कहावत है: "अस्समाहु रबाहुन" यानी मामलों में नरमी और बड़प्पन का तरीक़ा हमेशा फ़ायदेमंद होता है। यह कहावत इंसानी तजुर्बे से बनी है। इंसान ने हज़ारों बरस के दौरान दोनों तरह का तजुर्बा किया—नरम रवैया का भी और सख्त रवैया का भी। आख़िरकार तजुर्बे से साबित हुआ कि सख्त रवैया उल्टा नतीजा पैदा करता है, उसके मुक़ाबले में नरम रवैया ऐसा नतीजा देता है जो आपके लिए फ़ायदेमंद हो।

रेलवे स्टेशन पर दो आदमी चल रहे थे। एक आदमी आगे था, दूसरा आदमी पीछे, पीछे वाले के हाथ में एक बड़ा बक्सा था। तेज़ी से आगे बढ़ते हुए उसका बक्सा आगे वाले आदमी के पैर से टकरा गया। वह प्लेटफ़ॉर्म पर गिर पड़ा। पीछे वाला आदमी फ़ौरन रुक गया और शर्मिंदगी के साथ बोला, "मुझे माफ कीजिए" (excuse me)। आगे वाले आदमी ने यह सुना तो वह भी ठंडा पड़ गया। उसने कहा, "कोई हरज नहीं" (OK) और फिर दोनों उठकर अपनी-अपनी मंज़िल की तरफ़ रवाना हो गए।

दूसरी सूरत यह है कि ऐसी किसी अप्रिय परिस्थिति में दोनों बिगड़ जाएँ। एक कहे, "तुम अंधे हो।" दूसरा कहे, "तुम बदतमीज़ हो, तुम्हें बोलना नहीं आता," वगैरह। अगर ऐसे मौके पर दोनों इस तरह की बातें करने लगें,गें तो बात बढ़ेगी। यहाँ तक कि दोनों लड़ पड़ेंगे। पहले अगर उनके जिस्म पर मिट्टी लगी थी तो अब उनके जिस्म से खून बहेगा। पहले अगर उनके कपड़े फटे थे तो अब उनकी हड्डियाँ तोड़ी जाएँगी। चाहे घरेलू ज़िंदगी का मामला हो या घर के बाहर का

मामला। चाहे एक क़ौम के लोगों का झगड़ा हो या दो क़ौमों के लोगों का झगड़ा—हर जगह नरम रवैया और ऊँचे ज़र्फ़ से मसले खत्म होते हैं और इसके उलट रवैया अपनाने से मसले और बढ़ जाते हैं।

नरम रवैया अपनाना जैसे आग पर पानी डालना है, और सख्त रवैया अपनाना जैसे आग पर पेट्रोल डालना। पहला तरीक़ा आग को बुझाता है और दूसरा तरीक़ा आग को और भड़काता है।

दुश्मन में दोस्त

डॉक्टर सैयद अब्दुल लतीफ़ (1891–1971) का जन्म कर्नूल (दक्खन) में हुआ। वे अपने क़ुरान के अंग्रेजी अनुवाद और दूसरी सेवाओं की वजह से काफ़ी मशहूर हैं। उन्होंने अपने पिता को बताए बिना स्थानीय हाई स्कूल में दाख़िला ले लिया था। उनके पिता को अंग्रेज़ों और अंग्रेज़ी शिक्षा से बेहद नफ़रत थी। जब उन्हें पता चला तो वे ग़ुस्से में आ गए और सख़्त लहजे में पूछा कि अंग्रेज़ी पढ़कर क्या करेगा। दुबले-पतले, छोटे क़द के लड़के ने जवाब दिया, “अंग्रेज़ी पढ़कर क़ुरआन का अनुवाद अंग्रेज़ी में करूँगा।” 1915 में उन्होंने बी.ए. का इम्तिहान बहुत अच्छे अंकों से पास किया। 1920 में उन्हें उस्मानिया यूनिवर्सिटी हैदराबाद में अंग्रेज़ी के शिक्षक के तौर पर नियुक्त किया गया। 1922 में उनके लिए एक नया मौक़ा पैदा हुआ, जब उस्मानिया यूनिवर्सिटी के चार शिक्षकों को ऊँची पढ़ाई के लिए यूरोप भेजना तय हुआ, और उनके लिए रियासत की तरफ़ से तीस हज़ार रुपये का बिना सूदी क़र्ज़ मंज़ूर किया गया। उनमें एक सैयद अब्दुल लतीफ़ भी थे।

लंदन पहुँचकर वे वहाँ बी.ए. (ऑनर्स) में दाख़िला लेना चाहते थे, मगर किंग्स कॉलेज के अंग्रेज़ी विभाग के प्रमुख और दूसरे अंग्रेज़ शिक्षक उनकी क़ाबिलियत से इतने प्रभावित हुए कि उन्हें बी.ए. और एम.ए. से मुक्त रखते हुए सीधे पी.एच.

डी. करने की अनुमति दे दी। उनके शोध का विषय तय हुआ—"उर्दू साहित्य पर अंग्रेज़ी साहित्य का प्रभाव।" शोध की अवधि तीन साल रखी गई थी, मगर उन्होंने दो साल में ही अपना शोध पूरा कर लिया। किंग्स कॉलेज के ज़िम्मेदारों ने उसे मंज़ूर करते हुए उन्हें डॉक्टरेट की डिग्री का हक़दार क़रार दिया। सैयद अब्दुल लतीफ़ तय समय से एक साल पहले डॉक्टर बनकर हैदराबाद लौट आए। वहाँ पहुँचते ही उन्हें उस्मानिया यूनिवर्सिटी का प्रोफेसर बना दिया गया।

1922 में अंग्रेज़ों को मुसलमानों का सबसे बड़ा दुश्मन समझा जाता था, मगर उसी दुश्मन ने एक मुसलमान विद्यार्थी के साथ ऐसी दरियादिली का बर्ताव किया जिसकी मिसाल मुस्लिम इदारों में भी मुश्किल से मिलती है। हक़ीक़त यह है कि "दुश्मन इंसान" के अंदर भी "दोस्त इंसान" मौजूद होता है, लेकिन उस दोस्त इंसान को वही लोग पाते हैं जो दोस्ती और दुश्मनी से ऊपर उठकर इंसानों से बर्ताव करना जानते हों।

आम तौर पर लोग अपनों को अपना और दूसरों को ग़ैर समझते हैं, मगर खुले दिल वाला इंसान हर एक को अपना समझता है, उसके लिए कोई भी पराया नहीं होता।

स्वामी रामतीर्थ (1873–1906) बहुत क़ाबिल आदमी थे। उनका एक बहुत अर्थपूर्ण कथन है: "ज़िंदगी के सब दरवाज़ों पर लिखा होता है 'खींचो', मगर ज़्यादातर लोग उसे 'धक्का' देना शुरू कर देते हैं।" स्वामी रामतीर्थ धाराप्रवाह अंग्रेज़ी बोलते थे। वे धर्म के प्रचार के लिए 1903 में अमेरिका गए। उनका जहाज़ सैन फ्रांसिस्को के समुद्री किनारे पर ठहरा। वे उतरे तो एक अमेरिकी व्यक्ति उनसे मिलने आया। उसके बाद जो बातचीत हुई वह यह थी:

"आपका सामान कहाँ है?" अमेरिकी ने पूछा।

"मेरा सामान बस यही है," स्वामी रामतीर्थ ने जवाब दिया।

"आप अपना रुपया-पैसा कहाँ रखते हैं?"

"मेरे पास रुपया-पैसा है ही नहीं।"

"फिर आपका काम कैसे चलता है?"

"मैं सबसे प्यार करता हूँ, बस उसी से मेरा सब काम चल जाता है।"

"तो अमेरिका में आपका कोई दोस्त ज़रूर होगा।"

"हाँ, एक दोस्त है और वह दोस्त यह है।"

यह कहकर स्वामी रामतीर्थ ने अपने दोनों हाथ अमेरिकी व्यक्ति के गले में डाल दिए। अमेरिकी उनकी इस बात से बहुत प्रभावित हुआ। उसके बाद वह उनका इतना गहरा दोस्त बन गया कि उन्हें अपने घर ले गया, और स्वामी रामतीर्थ जब तक अमेरिका में रहे, वह हमेशा उनके साथ रहा और उनकी सेवा करता रहा। यहाँ तक कि वह उनका शिष्य बन गया।

इस दुनिया में प्रेम सबसे बड़ी ताक़त है। प्रेम के ज़रिए आप अपने विरोधी को भी झुका सकते हैं और एक अजनबी को अपना बना सकते हैं—बशर्ते कि आपका प्रेम सच्चा प्रेम हो, दिखावे और प्रदर्शन के लिए न हो।

असफलता में सफलता

मोहन सिंह ओबरॉय 15 अगस्त 1900 को झेलम के एक गाँव में पैदा हुए। उनके पिता पेशावर में ठेकेदारी का काम करते थे। लेकिन मिस्टर ओबरॉय सिर्फ छह महीने के थे कि उनके पिता का देहांत हो गया। पिता के मरने के बाद मिस्टर ओबरॉय बिल्कुल अकेले रह गए। बहुत मुश्किलों के बाद उन्होंने सरगोधा से मेट्रिक किया और लाहौर से इंटरमीडिएट की परीक्षा पास की। इसके बाद पैसों की कमी के कारण वह पढ़ाई जारी नहीं रख सके।

मिस्टर ओबरॉय ने अपनी ज़िंदगी के हालात लिखे हैं जो टाइम्स ऑफ इंडिया के संडे एडिशन (12 अगस्त 1990) में छपे हैं। वह लिखते हैं कि इंटरमीडिएट के बाद जब मैंने देखा कि अब मैं आगे पढ़ाई नहीं कर सकता तो यह मेरी ज़िंदगी

का बहुत चिंतित कर देने वाला पल था, क्योंकि मैंने महसूस किया कि मेरी इस डिग्री से मुझे कोई नौकरी नहीं मिल सकती।

> This was a moment of anxiety in my life as I realized that my qualifications would not get me a job.

नौकरी न मिलने की वजह से वह बिजनेस के क्षेत्र में आ गए। यह व्यापारिक संघर्ष की एक लंबी कहानी है जिसे उस अखबार में देखा जा सकता है। सार यह है कि 1924 में उन्होंने एक होटल के काम में मामूली तौर पर हिस्सा लिया। 1939 में जब दूसरी विश्वयुद्ध शुरू हुई तो वह कोलकाता में अपना एक होटल शुरू कर चुके थे। उनका काम बढ़ता गया। आज वह एक "होटल साम्राज्य" के मालिक हैं। भारत के ज़्यादातर बड़े शहरों में उनके होटल "ओबरॉय" के नाम से चल रहे हैं। इसके अलावा सिंगापुर, सऊदी अरब, श्रीलंका, नेपाल, खाड़ी देशों, मिस्र और अफ्रीका में उनके बड़े-बड़े होटल सफलतापूर्वक चल रहे हैं। मिस्टर ओबरॉय को नौकरी के क्षेत्र में जगह नहीं मिली तो उन्होंने व्यापार के क्षेत्र में उससे भी बड़ी जगह अपने लिए बना ली। यही आज की दुनिया में सफलता का सबसे बड़ा राज़ है। यहाँ सफल वही होता है जो गिरने के बाद दोबारा उठ सके।

अगर एक क्षेत्र में आपको मौक़े न मिलें तो दूसरे क्षेत्र में मेहनत शुरू कर दीजिए। हो सकता है कि आप दूसरे क्षेत्र में वही सब कुछ पा लें जिसकी उम्मीद आप पहले क्षेत्र में कर रहे थे।

डॉ. सलीम अली (1896–1987) को पक्षी विज्ञान (Ornithology) में बहुत ऊँचा दर्जा मिला। भारत सरकार ने उन्हें पद्म भूषण दिया। ब्रिटेन ने उन्हें गोल्ड मेडल से सम्मानित किया। हॉलैंड ने उन्हें गोल्डन आर्क दिया। विश्व संस्था वाइल्ड लाइफ ने उन्हें इनाम के रूप में 50 हज़ार डॉलर दिए। भारत की तीन यूनिवर्सिटियों ने उन्हें मानद डॉक्टरेट की उपाधि दी। वह राज्य सभा के सदस्य भी रहे, आदि। डॉ. सलीम अली को यह बड़ी सफलता एक असफलता के कारण मिली। वह मुंबई के एक भीड़भाड़ वाले इलाके खेतवाड़ी में पैदा हुए। बी.ए. तक पढ़ाई करने के बाद उन्हें नौकरी की ज़रूरत थी। लेकिन जब वह नौकरी की

तलाश में निकले तो उनके शब्दों में "हर संस्था और हर दफ़्तर में उनके लिए जगह नहीं (no vacancy) का बोर्ड लगा हुआ था।" इस असफलता ने उनके लिए सफलता के नए रास्ते खोल दिए।

एक दिन उन्होंने एक छोटी चिड़िया पकड़ी। उसे देखकर उन्हें उसमें एक अनोखी बात नज़र आई—उसकी गर्दन पीले रंग की थी। उन्होंने उसकी खोजबीन शुरू कर दी। उन्होंने पक्षी विज्ञान से जुड़ी बहुत सी किताबें पढ़ीं। उनकी दिलचस्पी बढ़ती गई। यहाँ तक कि उन्होंने एक हाथ से चलने वाली दूरबीन ले ली। अब उनका काम यह हो गया कि यहाँ-वहाँ जाकर चिड़ियों को देखें और उनके बारे में अपनी डायरी में लिखें। आखिरकार उन्होंने पक्षी विज्ञान में इतनी जानकारी हासिल कर ली कि इस विषय को नई दिशा और पहचान मिली। उनकी दो किताबें बहुत मशहूर हैं। एक किताब में उन्होंने भारत उपमहाद्वीप की 1200 चिड़ियों के बारे में लिखा है। उनकी दूसरी किताब *The Book of Indian Birds* है जो ग्यारह बार छप चुकी है और पूरी दुनिया में पढ़ी जाती है।

डॉ. सलीम अली को ज़मीन पर काम करने वाली संस्था में जगह नहीं मिली थी, तो उन्होंने आसमान में उड़ने वाले पक्षियों के अध्ययन में अपने लिए बेहतर रास्ता खोज लिया। उन्हें सरकारी नौकरी नहीं मिली, लेकिन अपनी मेहनत और काम के ज़रिए वह दुनिया भर के सम्मान पाने के हकदार बने।

फासला बनाए रखो

सड़क पर एक ही समय में बहुत सी गाड़ियाँ चलती हैं—आगे से, पीछे से, दाएँ से और बाएँ से। इसलिए सड़क के सफर को सुरक्षित रखने के लिए कई नियम बनाए गए हैं। ये ट्रैफिक के नियम (traffic rules) सड़क के किनारे हर जगह लिखे होते हैं ताकि सड़क पर चलने वाले लोग उन्हें पढ़ें और उनके मार्गदर्शन में अपना सफर तय करें।

दिल्ली की एक सड़क से गुज़रते हुए इसी तरह का एक नियम बोर्ड पर नज़र आया। उस पर लिखा था—फासला बनाए रखो: Keep Distance

मैंने जब इसे पढ़ा तो मुझे लगा कि इन दो शब्दों में बहुत बड़ी समझदारी की बात कही गई है। यह पूरी ज़िंदगी की एक सीख है। इसका संबंध सड़क के सफर से भी है और ज़िंदगी के सफर से भी है।

आज की दुनिया में कोई भी इंसान अकेला नहीं है। हर इंसान को बहुत से लोगों के बीच रहते हुए अपना काम करना पड़ता है। हर इंसान का अपना हित होता है। हर व्यक्ति अपने अंदर एक अलग दुनिया रखता है। हर कोई चाहता है कि वह दूसरे से आगे निकल जाए।

ऐसी हालत में ज़रूरी है कि हम ज़िंदगी के सफर में "फासला बनाए रखो" के उसूल को हमेशा याद रखें। हमें दूसरों से इतनी दूरी पर रहना चाहिए कि उनसे टकराव का खतरा उठाए बिना हम अपना सफर जारी रख सकें। इसी समझदारी को क़ुरान में "ए'राज़" (28:55) कहा गया है—यानी बेवजह टकराव से बचना। अगर आप इस समझदारी को न अपनाएँ तो कभी आपका फ़ायदा दूसरे के फ़ायदे से टकरा सकता है, कभी आपका कोई सख्त शब्द किसी को नाराज़ कर सकता है, और कभी आपकी लापरवाही आपको अनावश्यक झगड़ों में डाल सकती है।

फिर वही होगा जो सड़क पर होता है—यानी सड़क का हादसा इंसान के सफर को रोक देता है, कभी-कभी उसकी ज़िंदगी भी खत्म कर देता है। इसी तरह, अगर आप ज़िंदगी में इस सिद्धांत को न अपनाएँ, तो आपकी तरक़्क़ी रुक जाएगी। यह भी हो सकता है कि आप अपनी ज़िंदगी से ही हाथ धो बैठें। आप इतिहास के पन्नों से मिट जाएँ। अतीत और वर्तमान दोनों में इसकी अनगिनत मिसालें हैं—जब भी किसी ने अपनी हद पार की, उसका अंजाम बुरा ही हुआ।

नीतिन वालिया 3 साल का बच्चा है। वह अपने माता-पिता (विजय पाल वालिया और सुनीता) के साथ शाहदरा में रहता है। बच्चे को चिड़ियाघर देखने

का बहुत शौक था। उसके माता-पिता उसे दिल्ली का चिड़ियाघर दिखाने ले गए। अलग-अलग जानवरों को देखते हुए वे उस जगह पहुँचे जहाँ सफेद शेर का पिंजरा था। वह शेरनी और उसके बच्चों को देखने के लिए रुके। नीतिन रेलिंग के अंदर चला गया और पिंजरे में अपना हाथ डाल दिया। शेरनी (नीमा) ने झपटकर उसका हाथ अपने मुँह में पकड़ लिया। लोगों ने लकड़ी से मारकर शेरनी को हटाया, लेकिन तब तक वह बच्चे का हाथ कंधे तक चबा चुकी थी। ऑपरेशन के बाद बच्चा ज़िंदा है मगर वह ज़िंदगी भर के लिए अपने दाएँ हाथ से महरूम हो गया। टाइम्स ऑफ इंडिया (21 मार्च 1988) के रिपोर्टर के अनुसार, बच्चे के माता-पिता ने इस हादसे की ज़िम्मेदारी चिड़ियाघर के कर्मचारियों पर डाली। उन्होंने कहा कि उस वक्त पिंजरे के पास कोई चौकीदार मौजूद नहीं था।

> The parents alleged that there were no guards present in the area.

अक्सर लोग ऐसा करते हैं कि जब उनके साथ कोई हादसा होता है तो वे तुरंत अपने से बाहर किसी को खोजते हैं जिस पर उसकी ज़िम्मेदारी डाल सकें। मगर इस दुनिया में यह कोशिश बेकार है। यहाँ दुर्घटना से वही बच सकता है जो अपने आप पर काबू रखे। जो व्यक्ति खुद पर काबू खो देता है, वह ज़रूर किसी न किसी हादसे का शिकार होगा—चाहे वह दूसरों को दोष देने के लिए शब्दकोश के एक-एक शब्द का सहारा ही क्यों न ले ले।

चिड़ियाघर में ख़तरनाक जानवर के पिंजरे से चार फीट की दूरी पर रेलिंग (railing) लगी होती है। इसका मक़सद यही है कि इंसान को जानवरों से सुरक्षित दूरी पर रखा जाए। इसी तरह ज़िंदगी के हर मोड़ पर एक रेलिंग होती है। जो व्यक्ति उस रेलिंग को हद समझकर वहीं रुक जाता है, वह सुरक्षित रहता है। और जो व्यक्ति उस रेलिंग को पार कर जाता है, वह अपने आपको हादसों से नहीं बचा सकता—न चिड़ियाघर के अंदर और न चिड़ियाघर के बाहर।

मुक़ाबले की हिम्मत

जे. आर. डी. टाटा (J. R. D. Tata, b. 1904) भारत के सबसे बड़े उद्योगपतियों में से एक हैं। जब यह बात लिखी गई तब उनकी उम्र 85 साल थी। अब भी वह हवाई जहाज़ उड़ाते हैं और बर्फ पर स्कीइंग (skiing) करते हैं। इतनी उम्र में उनकी इस सेहत का राज़ क्या है? इस सवाल के जवाब में उन्होंने कहा—"जो चीजें मुझे हमेशा जवान रखती हैं, उनमें से एक यह है कि मैं हमेशा ख़तरों में जीने के लिए तैयार रहता हूँ। ज़िंदगी को उपयोगी बनाने के लिए आपको जोखिम उठाने के लिए तैयार रहना चाहिए—बिज़नेस, खेल, शादी, हर चीज़ में रिस्क।"

One of the things that keeps me young is the fact that I am prepared to live dangerously. You must be prepared to take risks in business, sport, marriage, everything, to make life worthwhile. (*Hindustan Times*, 13 July 1991, p.4)

अंग्रेज़ी में कहा गया है—"No risk, no gain" यानी अगर जोखिम नहीं, तो सफलता भी नहीं। सवाल यह है कि जोखिम और ख़तरे इंसान को सफलता और तरक्की की ओर क्यों ले जाते हैं? वजह यह है कि रिस्क इंसान की ताक़तों को जगा देता है। यह एक आम इंसान को असाधारण इंसान बना देता है।

अगर इंसान ख़तरों का सामना न करे, रिस्क से दूर रहे, तो वह सुस्त और आलसी बन जाएगा। उसकी प्राकृतिक क्षमताएँ सोई हुई रह जाएँगी। वह ऐसा बीज होगा जो फूटे बिना मिट्टी में पड़ा रहेगा, ऐसा पानी होगा जिसमें लहरें नहीं उठतीं, जो कभी तूफ़ान नहीं बनता।

लेकिन जब इंसान के सामने ख़तरे आते हैं, जब ज़िंदगी उसे रिस्क की स्थिति में डालती है, तब उसके अंदर छिपी हुई क़ाबिलियत जाग उठती है। हालात का दबाव उसे मजबूर कर देता है कि वह सक्रिय हो जाए और पूरी ताक़त से काम करे। हर इंसान के अंदर बहुत बड़ी क्षमताएँ होती हैं, मगर वे शुरू में सोई रहती हैं।

वह जगाये बिना नहीं जगतीं। उन्हें जगाने का सिर्फ़ एक तरीक़ा है—उन्हें किसी चुनौती का सामना करना पड़े। आराम की ज़िंदगी देखने में तो सुकून देती है, मगर इसकी भारी क़ीमत यह है कि इंसान की शख्सियत अधूरी रह जाती है। वह अपनी असली ऊँचाई तक नहीं पहुँच पाता।

6 जनवरी 1990 के अख़बारों में एक ख़बर थी कि मोहम्मद अज़हरुद्दीन को सर्वसम्मति से भारतीय क्रिकेट टीम का कप्तान बनाया गया है। वह न्यूज़ीलैंड जाने वाली टीम के कप्तान होंगे। यह बात क्रिकेट जगत के लिए बड़ी हैरान करने वाली थी, क्योंकि ज़्यादातर लोग समझते थे कि यह पद श्रीकांत को मिलेगा, जो शारजाह कप, नेहरू कप और पाकिस्तान दौरे पर टीम के कप्तान रह चुके थे। 27 वर्षीय हैदराबादी अज़हरुद्दीन को क्रिकेट में उनकी प्रतिभा की वजह से "वंडर बॉय" (wonder boy) कहा जाता है। वह भारतीय क्रिकेट के दूसरे सबसे कम उम्र के कप्तान हैं। उनसे पहले मंसूर अली ख़ान पटौदी 21 साल की उम्र में कप्तान बने थे।

अज़हरुद्दीन को इस ऊँचे पद तक पहुँचाने वाली बात उनकी यह क्षमता थी कि चुनौती आने पर वह हिम्मत नहीं हारते, बल्कि और ज़्यादा ताक़त के साथ उसका सामना करते हैं। दिसंबर 1989 में पाकिस्तान दौरे की शुरुआत में उनका टेस्ट करियर खतरे में पड़ गया था, क्योंकि फ़ैसलाबाद टेस्ट की पहली पारी में वह शून्य पर आउट हो गए थे। लेकिन दूसरी पारी में शानदार शतक बनाकर उन्होंने अपना करियर बचा लिया।

टाइम्स ऑफ इंडिया (6 जनवरी 1990) की रिपोर्ट के मुताबिक़, चयन समिति के अध्यक्ष मिस्टर राज सिंह डूंगरपुर ने कहा कि अज़हरुद्दीन को इसलिए चुना गया क्योंकि उन्हें चुनौती से निपटना पसंद है, जैसा कि पाकिस्तान दौरे में देखा गया, जहाँ वह पहले टेस्ट से बाहर होने वाले थे। और यही नेतृत्व की सबसे अहम खूबी है:

> He loves overcoming challenging situations, as was evident during the tour of Pakistan, when he was on

the verge of being dropped from the first Test, and that is an important ingredient of leadership.

यह दुनिया चुनौतियों की दुनिया है। यहाँ वही लोग कामयाब होते हैं जिनमें उनका सामना करने की हिम्मत होती है। किसी व्यक्ति में यह गुण जितना ज़्यादा होगा, वह इस दुनिया में उतनी ही बड़ी सफलता हासिल करेगा।

ज़मीर की ताक़त

अबुल बरकात अलवी (63 साल) निज़ामपुर, ज़िला आज़मगढ़ (यू.पी.) के रहने वाले हैं। 29 अगस्त 1989 की एक मुलाकात में उन्होंने अपने इलाक़े का एक ऐसा वाक़या बताया जिसमें बड़ा सबक़ छिपा है। आज़मगढ़ के उत्तर-पश्चिम में एक गाँव है—रैदा, जो मझुई नदी के किनारे फैज़ाबाद की सीमा पर स्थित है। यहाँ चार घर मुसलमानों के हैं, जबकि उनके मुक़ाबले में लगभग दो सौ घर हिंदुओं के हैं। नवंबर 1987 में ऐसा हुआ कि बाहर से एक नीलगाय आई और गन्ने के खेत में घुस गई। एक स्थानीय मुसलमान झन्नू दर्जी ने सोचा कि उसे शिकार बनाया जाए। उन्होंने पास के गाँव मखदूमपुर में एक मुसलमान को खबर दी, जिसके पास बंदूक थी। वह अपनी बंदूक लेकर आए और नीलगाय पर फायर कर दिया।

अगर नीलगाय वहीं मर जाती तो कोई बात न होती, मगर निशाना सही नहीं लगा। नीलगाय ज़ख़्मी हो गई और खून बहाते हुए भागी। हिंदुओं ने जब जगह-जगह खून देखा तो उन्हें गुस्सा आ गया। जब उन्हें मालूम हुआ कि झन्नू दर्जी ने नीलगाय पर गोली चलाने के लिए बुलाया था, तो उन्होंने गाँव में पंचायत की और फैसला किया कि झन्नू दर्जी ने जो गलती की है, उसके बदले उस पर एक हज़ार रुपये का जुर्माना लगाया जाता है।

गाँव में कोई नेता ऐसा नहीं था जो झन्नू दर्जी को भड़काए, और न मुसलमानों

की वहाँ कोई ताक़त थी कि वे उसे हौसला देते। इसलिए उसकी अंतरात्मा ने उसे सही राह दिखाई। वह पंचायत के सामने खड़ा हुआ और बोला, "मुझे पंचों का फैसला मंज़ूर है। मैं गरीब आदमी हूँ, मेरे पास नकद पैसे नहीं हैं, लेकिन मैं अपना घर का सामान बेचकर यह जुर्माना भर दूँगा।"

तीन दिन गुज़रे थे कि हिंदुओं का ज़मीर जाग उठा। उन्होंने फिर से पंचायत बुलाई। उन्होंने आपस में कहा कि यहाँ मुसलमान बहुत कम और कमज़ोर हैं। अगर बाहर के लोग सुनेंगे कि हमने उनसे जुर्माना वसूला है तो वे हमें नीचा समझेंगे और हमारी बदनामी होगी कि हमने कमज़ोरों को दबा लिया। सबने मिलकर तय किया कि झन्नू दर्जी से जुर्माना नहीं लिया जाएगा। और इस तरह पंचायत की सर्वसम्मति के फैसले से झन्नू दर्जी का जुर्माना माफ़ कर दिया गया।

हर इंसान के अंदर ज़मीर होता है। यह ज़मीर दूसरे के अंदर आपका प्रतिनिधि होता है। इस स्वाभाविक प्रतिनिधि को जगाइए, फिर आपको किसी से शिकायत नहीं रहेगी। सी. एफ. डोल (C. F. Dole) ने कहा है कि—"दुनिया में सबसे बड़ी ताक़त भलाई और नेकी का बर्ताव है।"

> The greatest power in the world is the power of goodness and righteous conduct.

यह सिर्फ़ एक व्यक्ति की बात नहीं, बल्कि एक सच्ची हक़ीक़त है। इंसान के पैदा करने वाले ने उसकी प्रकृति में यह गुण रखा है कि अगर उसके साथ बुरा व्यवहार किया जाए तो वह भड़क उठता है, और अगर उसके साथ अच्छा व्यवहार किया जाए तो वह कृतज्ञता के भाव में उसके आगे बिछ जाता है।

इस नियम से कोई भी व्यक्ति बाहर नहीं है—यहाँ तक कि दोस्त और दुश्मन भी नहीं। अगर आप अपने दोस्त से कड़वा बोलें, उसे अपमानित करें या तकलीफ पहुँचाएँ, तो वह तुरंत अपनी दोस्ती भूल जाएगा और उसके अंदर बदले की भावना जाग उठेगी। जो व्यक्ति पहले आप पर फूल बरसा रहा था, वही अब आप पर काँटे और आग बरसाने को तैयार होगा।

इसके उलट, अगर कोई व्यक्ति आपका दुश्मन है और आप उससे मीठा बोलें, उसकी कोई जरूरत पूरी करें, उसकी मुश्किल में उसकी मदद कर दें, या प्यास के वक्त उसे ठंडा पानी पिला दें—तो अचानक उसका स्वभाव बदल जाएगा। जो पहले आपका खुला दुश्मन था, वही अब आपका दोस्त और शुभचिंतक बन जाएगा।

अल्लाह ने इंसान की फितरत में यह स्वभाव रखकर हमारी बड़ी मदद की है। इस स्वभाव ने एक निहत्थे इंसान को भी सबसे बड़ा असरदार हथियार दे दिया है। इस दुनिया में शेर और भेड़िये को मारने के लिए गोली चाहिए, लेकिन इंसान को जीतने के लिए किसी गोली की ज़रूरत नहीं—सिर्फ़ अच्छे व्यवहार की एक बूँद काफी है। कितना आसान है इंसान को अपना बनाना, मगर नादान लोग इसी आसान काम को अपने लिए सबसे मुश्किल बना लेते हैं।

दिमाग़ की बढ़ोतरी

सर सी. वी. रमन (1888–1970) भारत के प्रसिद्ध वैज्ञानिक थे। वह तिरुचिरापल्ली में पैदा हुए और बेंगलुरु में उनका देहांत हुआ। अपने आख़िरी समय में वह रमन रिसर्च इंस्टीट्यूट के डायरेक्टर थे। इसके अलावा उन्होंने कई वैज्ञानिक पदों पर काम किया। 1930 में उन्हें भौतिकी (Physics) का नोबेल पुरस्कार मिला। रमन के बारे में एक लेख संडे रिव्यू (17 मार्च 1991) में छपा था। उसमें लिखा था—रमन का विश्वास था कि विज्ञान का असली ज़रिया दिमाग़ है, न कि उपकरण। एक बार उनके एक छात्र ने शिकायत की कि उसके पास रिसर्च के लिए सिर्फ़ 1 किलोवॉट का लैम्प है, जबकि विदेशों में उसी स्तर के छात्रों के पास 10 किलोवॉट का लैम्प होता है। रमन ने मुस्कराकर कहा कि चिंता मत करो, अपने मुद्दे को हल करने पर 10 किलोवॉट का दिमाग लगा लो।

> Raman believed that science came from the brain and not from equipment. When one of his pupils in spectroscopy complained that he had only a 1kw lamp, whereas his competitor abroad had a 10 KW lamp, Raman told him, "Don't worry. Put a 10M KW brain to the problem."

यह बात बिल्कुल सही है। इस दुनिया में हर काम का ताल्लुक दिमाग़ से है। साधनों की कमी को दिमाग़ से पूरा किया जा सकता है, लेकिन दिमाग़ की कमी को साधनों से पूरा नहीं किया जा सकता। दो या तीन सौ साल पहले जो वैज्ञानिक यूरोप में पैदा हुए, उनके पास वे साधन नहीं थे जो आज किसी विश्वविद्यालय के एक आम शोध छात्र के पास हैं। उन सबने बहुत कम साधनों में काम किया—जैसे न्यूटन ने केरोसीन के दीपक की रोशनी में काम किया, क्योंकि उस समय बिजली का इस्तेमाल शुरू ही नहीं हुआ था। फिर भी उन्हीं वैज्ञानिकों ने आधुनिक विज्ञान की बुनियाद रखी। यह सिद्धांत हर इंसान पर लागू होता है। जब भी किसी व्यक्ति को लगे कि उसके पास पैसा, साधन या संसाधनों की कमी है, तो उसे चाहिए कि वह अपनी दिमाग़ी मेहनत बढ़ा दे। उसकी यही मेहनत बाकी सारी कमियों को पूरा कर देगी।

प्रकृति ने इंसान को दिमाग़ की शक्ल में अद्भुत ताक़त दी है। दिमाग़ को इस्तेमाल करके इंसान हर कमी की भरपाई कर सकता है। मिस्टर कमाल अलीग (जन्म 1958) ने 1 फरवरी 1989 की एक मुलाकात में अपना एक अनुभव साझा किया। वह पहले सिगरेट पीते थे। 1984 से उन्होंने सिगरेट पूरी तरह छोड़ दी। 1976 से 1981 तक वह अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी में पढ़ाई कर रहे थे। उस समय वह "चेन स्मोकर" थे। एक दिन की बात है, परीक्षा का समय नज़दीक था। वह रात को देर तक पढ़ते रहे, यहाँ तक कि एक बजे का समय हो गया। उन्हें सिगरेट की तलब हुई, मगर देखा कि माचिस खत्म हो चुकी थी और हीटर भी ख़राब था। अंदर से सिगरेट की इच्छा बहुत तेज़ थी लेकिन जलाने का कोई साधन नहीं था।

क़रीब आधे घंटे तक वह यही सोचते रहे कि सिगरेट कैसे जलाएँ। अचानक उनके दिमाग़ में एक तरकीब आई। कमरे में 100 वॉट का बल्ब लटक रहा था। उन्होंने सोचा, अगर इस जलते हुए बल्ब पर किसी हल्की चीज़ को लपेट दिया जाए तो कुछ देर में वह गरम होकर जल उठेगी। उन्होंने एक पुराना कपड़ा लिया, उसका एक टुकड़ा फाड़ा और उसे बल्ब पर लपेट दिया। लगभग पाँच मिनट में कपड़ा सुलग उठा। कमाल साहब ने उसी से अपनी सिगरेट जलाई और पीने लगे।

यही कहलाती है "दिमाग़ी मेहनत।" आम लोग मेहनत को सिर्फ़ शारीरिक मेहनत समझते हैं, मगर असली और बड़ी मेहनत दिमाग़ी मेहनत है। दुनिया की सारी बड़ी तरक्की उसी के ज़रिए हासिल हुई है। शारीरिक मेहनत फावड़ा चलाने या हथौड़ा मारने का काम कर सकती है, लेकिन कोई वैज्ञानिक प्रयोगशाला या आधुनिक कारख़ाना सिर्फ़ दिमाग़ की मेहनत से बनता है। शारीरिक मेहनत आपको एक रुपया दे सकती है, मगर दिमाग़ी मेहनत आपको एक करोड़ कमा कर दे सकती है। शारीरिक मेहनत तो यह कर सकती है कि दौड़कर बाज़ार जाए और माचिस लाकर सिगरेट जलाए, मगर दिमाग़ी मेहनत वह शक्ति है जो बिना माचिस के सिगरेट जला दे, और बिना आग के आपके घर को रौशन कर दे।

इतिहास का सबक़

सर थॉमस रो (Sir Thomas Roe, 1581–1644) सत्रहवीं सदी की शुरुआत में लंदन से भारत आया और यहाँ तीन साल (1615–1618) तक रहा। उसने मुग़ल बादशाह जहाँगीर से संबंध स्थापित किए। उसकी एक विशेषता यह थी कि वह तुर्की भाषा जानता था और सीधे बादशाह से बात कर सकता था। जब सर थॉमस रो भारत पहुँचा, उस समय जहाँगीर अजमेर में था। थॉमस रो भी अजमेर पहुँचा और वहीं 3 साल तक रहा। बादशाह कभी-कभी उसे दरबार बुलाकर उससे बातचीत करता। थॉमस रो ने देखा कि जहाँगीर को चित्रकला

से बहुत लगाव है। एक दिन उसने बादशाह को एक सुंदर चित्र भेंट किया, जो जहाँगीर को बहुत पसंद आया।

थॉमस रो ने समझा कि अब वह समय आ गया है जिसका वह इंतज़ार कर रहा था। उसने बादशाह से एक ऐसी चीज़ मांगी जो दिखने में बहुत मामूली थी—भारत के तटीय शहर सूरत में एक "फैक्टरी" (व्यापारिक संस्था) खोलने की अनुमति। जहाँगीर ने अनुमति का फरमान लिख दिया। इसके अनुसार अंग्रेज़ों (East India Company) को सूरत में अपना व्यापारिक केंद्र स्थापित करने की इजाज़त मिल गई।

भारत के एक शहर में व्यापारिक केंद्र खोलने की अनुमति देखने में बहुत छोटी बात थी, क्योंकि उस वक़्त पूरा देश मुग़ल शासन के अधीन था। मगर यही अनुमति अंग्रेज़ों को वह शुरुआती सिरा दे रही थी, जिसके सहारे वे एक दिन पूरी सत्ता तक पहुँच गए। अंग्रेज़ों ने उस मामूली अवसर को स्वीकार किया और आगे चलकर इतिहास ने दिखाया कि जो व्यक्ति या क़ौम छोटे अवसरों को पकड़ लेता है, वह आखिरकार बड़े मुक़ाम तक पहुँचती है। यही इतिहास का सबक़ है—मगर बहुत कम लोग हैं जो इस सबक़ को समझते हैं।

इस दुनिया में असली अहमियत इस बात की है कि आपको किसी काम का आरंभिक सिरा मिल जाए। जिसके हाथ में शुरुआत का सिरा होता है, वह एक दिन अंतिम मंज़िल तक पहुँच ही जाता है।

भारत की आज़ादी की लड़ाई 1799 में शुरू हुई, जब सुल्तान टीपू अंग्रेज़ों से लड़ते हुए शहीद हुए। उसके बाद एक सदी से भी ज़्यादा समय तक अंग्रेज़ों से टकराव जारी रहा—कभी उनसे टकराव, कभी उन पर बम से हमला के ज़रिए, कभी विदेशी ताक़तों को भड़काकर। लेकिन ये सभी कोशिशें हिंसक और अस्थायी थीं। फिर गांधी जी राजनीति के मैदान में आए और अचानक परिदृश्य बदल गया। पहले लोग हिंसा के माध्यम से आज़ादी मांगते थे, लेकिन गांधी ने इसके विपरीत अहिंसा का रास्ता चुना। उन्होंने आंदोलन को ऐसी बुनियाद पर खड़ा किया जो अंग्रेज़ों को तुच्छ और नज़रअंदाज़ करने योग्य लगी।

गांधी जी के इसी अहिंसक आंदोलन का एक हिस्सा था "डांडी मार्च"। गुजरात के तट पर पुराने समय से लोग नमक बनाते थे, लेकिन अंग्रेज़ सरकार ने इस उद्योग को अपने नियंत्रण में ले लिया। गांधी जी ने इस अन्याय के विरुद्ध शांतिपूर्ण विरोध का फैसला किया। वह साबरमती से पैदल निकले और 24 दिन में 240 मील चलकर डांडी पहुँचे, जहाँ उन्होंने समुद्र के किनारे से एक मुट्ठी नमक उठाकर कानून तोड़ने की प्रतीकात्मक घोषणा की।

जब गांधी जी ने अपने इस कार्यक्रम की घोषणा की, तो अंग्रेज़ अधिकारियों की एक बैठक हुई। उस समय एक अंग्रेज़ अफसर ने व्यंग्य करते हुए कहा—

> "Let him make his salt. Mr. Gandhi will have to find a great deal more than a pinch of salt to bring down the British Empire."
>
> "उसे अपना नमक बनाने दें। श्री गांधी को ब्रिटिश साम्राज्य को गिराने के लिए एक चुटकी नमक से कहीं ज्यादा की ज़रूरत पड़ेगी।"

मगर इतिहास ने साबित किया कि कभी-कभी वही क़दम जो देखने में तुच्छ लगता है, असल में सबसे शक्तिशाली होता है। जो विरोधी को "चुटकी भर नमक" नज़र आए, वही आगे चलकर "पहाड़ भर नमक" साबित होता है।

एकता की ताक़त

टायको ब्राहे (Tycho Brahe, 1546–1601) डेनमार्क के स्कानिया क्षेत्र में पैदा हुए और प्राग में उनका निधन हुआ। जोहान्स केपलर (Johannes Kepler, 1571–1630) जर्मनी के वुर्टेम्बर्ग में पैदा हुए और रेगेंसबर्ग में उनकी मृत्यु हुई। दोनों खगोल विज्ञान (Astronomy) के क्षेत्र में शोध कर रहे थे,

लेकिन उनमें से कोई भी अकेले इतना सक्षम नहीं था कि ब्रह्मांड की कोई बड़ी सच्चाई खोज सके।

टायको ब्राहे और केपलर एक ही समय के वैज्ञानिक थे, लेकिन दोनों के लिए एक ही चीज़ रुकावट बनी हुई थी—दोनों के पास अपने विषय का पूरा ज्ञान नहीं था। टायको ब्राहे ने बहुत अधिक खगोलीय अवलोकन (observations) किए थे और उन्हें लिखकर सहेज रखा था। उसके पास आंकड़ों का एक बड़ा संग्रह था, लेकिन समस्या यह थी कि वह गणित में बहुत मज़बूत नहीं था। इसलिए, उस में यह क्षमता नहीं थी कि वह अपने अनुभवों को गणित के सिद्धांतों से जोड़ सके।

दूसरी ओर, केपलर का मामला उल्टा था। वह अवलोकन करने में कमज़ोर था। यद्यपि उसके समय में दूरबीन (telescope) की खोज हो चुकी थी, लेकिन व्यवहारिक रूप से वह उसका उपयोग नहीं कर सका था। उसकी विशेषता सिर्फ़ यह थी कि वह गणित का माहिर था और उसने गणनात्मक रूप से खगोल विज्ञान के कई सिद्धांत विकसित किए थे।

यहीं टायको ब्राहे की उदारता काम आई। टायको और केपलर के बीच व्यक्तिगत मतभेद थे, यहाँ तक कि केपलर ने एक पत्र में टायको पर कपट का आरोप लगाया था और उसे बहुत बुरा कहा था। लेकिन टायको ब्राहे, अपनी तेज़ मिज़ाजी के बावजूद, केपलर से नाराज़ नहीं हुए। उन्होंने सोचा कि उनके वैज्ञानिक काम का सबसे अच्छा उत्तराधिकारी केपलर ही हो सकता है। इसलिए 1601 में अपनी मृत्यु से पहले उन्होंने अपना पूरा शोध-संग्रह बिना किसी क़ीमत के केपलर को दे दिया।

जब टायको ब्राहे के सारे अवलोकन केपलर के पास आ गए, तो उसकी कमी पूरी हो गई। अब उसने अपनी गणितीय प्रतिभा को इन अवलोकनों से जोड़कर, और इसी का परिणाम था वे तीन सिद्धांत, जो “केपलर के ग्रहों की गति के नियम” (Kepler’s Laws of Planetary Motion) के नाम से प्रसिद्ध हुए।

इन्हीं नियमों के आधार पर बाद में सर आइज़क न्यूटन (1643–1727) ने "गुरुत्वाकर्षण बल" (Gravitational Force) का सिद्धांत पूरा किया।

यही इस दुनिया में किसी बड़ी सफलता का असली राज़ है। हर व्यक्ति की अपनी सीमाएँ होती हैं, इसलिए कोई अकेला इंसान बड़ा काम नहीं कर सकता। बड़ा काम तभी होता है जब कई लोग अपनी-अपनी क्षमताओं और मेहनत को एक दिशा में लगाते हैं। बिना संयुक्त प्रयास के कोई बड़ी उपलब्धि संभव नहीं।

लेकिन संयुक्त प्रयास की एक कीमत है—और वह है मतभेदों को नज़रअंदाज़ करके एकता अपनाना। विचारों में अंतर के बावजूद एकजुट हो जाना। इंसानों में मतभेद होना स्वाभाविक है, और यह ईमानदारी के साथ भी होता है। मतभेद से पूरी तरह बचना असंभव है, इसलिए समझदारी इसी में है कि लोग मतभेद के बावजूद एकता बनाए रखें। सामूहिक हित के लिए अपने निजी स्वार्थों को भुला दें। बड़े उद्देश्य के लिए छोटी बातों को नज़रअंदाज़ करें। मक़सद की पूर्ति के लिए अपनी ज़ात के आग्रह को दबा दें।

इसी का नाम है ऊँचा हौसला और बड़ा दिल। और इस ऊँचे हौसले और बड़ेपन के बिना इस दुनिया में कोई भी महान योजना पूरी नहीं हो सकती।

प्राकृतिक ढाल

साल 1973 में भारत के जंगलों में लगभग 1800 शेर थे। इसके बाद शेरों की संख्या बढ़ाने के लिए "प्रोजेक्ट टाइगर" (Project Tiger) शुरू किया गया। यह योजना सफल रही और अब शेरों की संख्या 4,000 से अधिक हो गई है। लेकिन शेरों की संख्या बढ़ने के साथ-साथ खतरा भी बढ़ा। उत्तर प्रदेश की तराई में "दुधवा नेशनल पार्क" है और भारत-बांग्लादेश की सीमा पर "सुंदरबन" है। यहाँ शेर (विशेष रूप से बाघ) अक्सर जंगल से निकलकर गाँवों के मवेशियों पर हमला कर देते हैं।

हालाँकि बहुत कम ही ऐसा होता है कि शेर या बाघ मनुष्य पर हमला करे। और यदि करता भी है तो हमेशा पीछे से करता है। इसका कारण यह है कि शेर मनुष्य के चेहरे से डरता है। टाइम्स ऑफ़ इंडिया (11 दिसंबर 1988) की एक रिपोर्ट के अनुसार, सुंदरबन के वे लोग जो किसी ज़रूरत के कारण बाघों के क्षेत्र में जाते हैं, वे अपने सिर के पीछे नक़ाब (mask) पहन लेते हैं ताकि सामने और पीछे दोनों ओर से मानवीय चेहरा दिखे। यह इसीलिए किया जाता है क्योंकि शेर शायद ही कभी किसी मनुष्य पर सामने से हमला करता है।

> Those who do enter the buffer zone of the Sundarbans wear masks on the back of their heads because a tiger seldom attacks a man from the front.

मनुष्य के चेहरे में स्वाभाविक रूप से रौब होता है। यह रौब जिस तरह जानवरों को रोकता है, उसी तरह मनुष्यों पर भी असर डालता है। शेर मनुष्य के चेहरे से प्रभावित होकर उस पर हमला करने की हिम्मत नहीं करता। वह केवल तब हमला करता है जब मनुष्य अपनी किसी कमज़ोरी से यह जतला दे कि वह शेर के सामने कमज़ोर है। यही बात मनुष्य और मनुष्य के बीच भी लागू होती है। स्वाभाविक स्थिति में हर इंसान दूसरे इंसान के चेहरे की गरिमा से प्रभावित रहता है। यह रौब तभी टूटता है जब कोई ऐसी घटना घटे जो उस स्वाभाविक संतुलन को बिगाड़ दे।

एक हदीस में है कि “अल्लाह ने आदम को अपनी सूरत पर बनाया है” (सही अल-बुख़ारी, हदीस नंबर 6227)। यह एक हक़ीक़त है कि इंसान का चेहरा पूरी सृष्टि में सबसे प्रभावशाली और शानदार चीज़ है। उसमें एक ऊँची शान और गरिमा झलकती है।

अल्लाह ने आपके चेहरे और आपकी शख़्सियत को आपके लिए एक “अजेय ढाल” बनाया है। आप हर ज़रूरत के वक़्त इसे इस्तेमाल कर सकते हैं, लेकिन यह इस बात पर निर्भर करता है कि आपने दूसरों की नज़रों में अपनी कैसी छवि बनाई है।

अगर आपने अपने माहौल में यह छवि बना रखी है कि आप एक हल्के, गैर-गंभीर इंसान हैं, जो सिर्फ़ खोखली बातें करता है—वह सामने तो आता है लेकिन डर कर पीछे हट जाता है—तो जब आप किसी के सामने आएँगे तो आपका आना एक "बे-वज़न" इंसान का आना होगा। उस वक्त आप एक टूटी हुई ढाल की तरह होंगे, जिसके अंदर कोई ताक़त नहीं होगी।

इसके उलट, अगर आपने अपने आस-पास यह छवि बनाई है कि आप एक मज़बूत और गंभीर इंसान हैं, जिनके ऊँचे चरित्र ने लोगों का दिल जीता है, तो आपके सामने आते ही नज़रें झुक जाएँगी। आपका आना इस वाक्य के समान होगा—

He came, he saw, he conquered.

"वह आया, उसने देखा, उसने जीत लिया।"

आपका मानवीय चेहरा आपके लिए एक रौबदार ढाल है। कोई भी व्यक्ति तब तक आप पर वार करने की हिम्मत नहीं करेगा जब तक आप अपनी किसी नादानी से यह साबित न कर दें कि आप उससे कमज़ोर हैं। समझदारी और आत्म-संयम के ज़रिए अपने इस "मानवीय रौब" को क़ायम रखिए—तब कोई भी व्यक्ति आपको चोट पहुँचाने की हिम्मत नहीं करेगा।

मकसद का एहसास

1931 में जापान ने चीन के उत्तर-पूर्वी हिस्से (मंचूरिया) पर कब्ज़ा कर लिया और वहाँ अपनी पसंद की सरकार बना दी। इसके बाद दोनों देशों के रिश्ते बिगड़ गए। 7 जुलाई 1937 को बीजिंग (पेकिंग) के पास "मार्को पोलो ब्रिज" का हादसा हुआ। इस घटना ने छिपी हुई नफ़रत को भड़का दिया और दोनों देशों के बीच युद्ध छिड़ गया, जो आखिरकार दूसरे विश्व युद्ध तक पहुँच गया।

उस समय से चीन और जापान के बीच गहरी नफ़रत और तनाव था। कुछ साल पहले दोनों देशों के बीच एक समझौता हुआ था, जिसके अनुसार जापान को चीन में एक स्टील मिल बनानी थी। मगर समझौते के बाद चीन की सरकार ने अचानक इसे रद्द कर दिया।

जब चीन के प्रधानमंत्री डेंग शियाओपिंग (Deng Xiaoping) ने समाजवादी कट्टरता को समाप्त कर "ओपन डोर पॉलिसी" (Open Door Policy) अपनाई, तो जापान को एक नया अवसर मिल गया। आज जापान चीन में बड़े पैमाने पर व्यापार कर रहा है। अगर आप जापान से चीन जाना चाहें तो आपको अपनी फ्लाइट की सीट तीन महीने पहले बुक करनी पड़ेगी, क्योंकि हर विमान की सारी सीटें भरी रहती हैं।

चीन में व्यापार की अपार संभावनाएँ हैं। जापान चाहता था कि इन अवसरों का पूरा लाभ उठाए। इस लक्ष्य के लिए उसने एक झटके में अतीत की सारी कड़वी यादें भुला दीं। एक यात्री के शब्दों में, जापान ने तय किया कि वह चीन की ओर से आने वाली हर "चुभन" (pinprick) को एकतरफा बर्दाश्त करेगा।

उस यात्री ने लिखा—"मेरे टोक्यो प्रवास (जून 1985) के दौरान रेडियो बीजिंग ने घोषणा की कि चीन एक संग्रहालय बनाएगा जिसमें तस्वीरों के माध्यम से दिखाया जाएगा कि जापान ने अतीत में चीनियों पर क्या-क्या अत्याचार किए। यह संग्रहालय 1987 में खुलेगा, जब मार्को पोलो घटना को 50 साल पूरे होंगे।" जब जापानियों से इस पर राय पूछी गई तो उन्होंने चुप्पी साध ली। बहुत दबाव डालने पर उन्होंने सिर्फ इतना कहा—

> "You know our Chinese friends have a way of twisting our tails, and appealing to our conscience."
> (*The Times of India*, 13 June 1985)

जापान के सामने एक मक़सद था—अपने व्यापार को आगे बढ़ाना। इस मक़सद ने जापान के अंदर एक मज़बूत चरित्र पैदा किया। इसी मक़सद ने उसे समझदारी, सहनशीलता, चुप रहना और सिर्फ़ ज़रूरत के वक्त बोलना सिखाया। इसने उसे यह भी सिखाया कि कैसे वह अतीत को भुलाकर सारे झगड़ों और शिकायतों

को एक तरफ़ रख दे, ताकि अपने लक्ष्य तक पहुँचने का रास्ता आसान हो सके। जिस समूह के पास कोई मक़सद होता है, उसकी सोच हमेशा ऐसी ही होती है—चाहे वह व्यापार का लक्ष्य हो या कोई और। लेकिन जब कोई समूह ये गुण खो देता है, तो इसका मतलब होता है कि उसने अपना मक़सद खो दिया है। और जब उसके सामने कोई मक़सद नहीं रहता, तो उसके लोगों में भी कोई मज़बूत चरित्र नहीं रहता।

आज के समय में हमारी क़ौम की सबसे बड़ी कमज़ोरी उसका सुस्त और बेपरवाह हो जाना है। जिस भी क्षेत्र को आप देखें, आपको तुरंत महसूस होगा कि लोगों ने अपना ज़िम्मेदार और चरित्रवान किरदार खो दिया है। उन पर किसी ठोस योजना की नींव नहीं रखी जा सकती। जहाँ भी उन्हें काम में लिया जाता है, वे दीवार की कच्ची ईंट साबित होते हैं—मज़बूत ईंट होने का सबूत नहीं देते।

इस कमज़ोरी की असल वजह यह है कि हमारी क़ौम ने "मक़सद का एहसास" खो दिया है। अब उनके सामने न दुनिया की तरक्की का लक्ष्य है और न आख़िरत की सफलता का। यही उनकी सबसे बड़ी गिरावट है। अगर लोगों में दोबारा मक़सद का एहसास जगा दिया जाए, तो वे फिर से ज़िंदा और सक्रिय क़ौम बन जाएँगे। वे वही "बाकिरदार" लोग बन जाएँगे जैसे वे पहले हुआ करते थे। क़ौम के अफ़राद के अंदर मक़सद का एहसास पैदा कर देना—दरअसल उनके अंदर सब कुछ पैदा कर देना है। मक़सद इंसान की छिपी हुई ताक़तों को जगा देता है और उसे एक नया इंसान बना देता है।

ग़लतफ़हमी

गर्म प्रदेशों में एक खास तरह का पतंगा पाया जाता है, जिसे आमतौर पर प्रेइंग मैंटिस (Praying Mantis) कहा जाता है। लेकिन वास्तव में इसे शिकारी मैंटिस कहना ज़्यादा सही होगा, क्योंकि यह दूसरे कीड़ों का शिकार करके अपना पेट भरता है।

मेंटिस की दुनिया भर में एक हज़ार किस्में मिली हैं। वह 1 इंच से 7 इंच तक लंबा होता है। अपने माहौल के हिसाब से उसके रंग अलग होते हैं, जैसे भूरा, लाल और हरा।

एक घटना है कि एक आदमी ने अपने घर के पास खुली ज़मीन में अपना किचन गार्डन (kitchen garden) बनाया। छोटी छोटी क्यारियों में धनिया, मिर्च, बैंगन, टमाटर वगैरह लगाए। जब पौधे बड़े हुए और अच्छी तरह हरे भरे हो गए तो एक दिन उसने देखा कि उसकी क्यारी में बड़े बड़े दोहरे रंग के कीड़े मौजूद हैं। उसे अंदेशा हुआ कि ये मेरी सब्ज़ियों को खाएँगे और नुकसान पहुँचाएँगे। उसने तुरंत उन दोनों कीड़ों को पकड़कर मार डाला।

शाम को उसका एक दोस्त उससे मिलने आया। वह स्थानीय कॉलेज में botany का शिक्षक था। उस आदमी ने फतह के रंग में कहा कि आज मेरे किचन गार्डन (kitchen garden) में दो बड़े कीड़े आ गए थे। वे मेरी सब्ज़ियों को खाना चाहते थे, मगर इससे पहले कि वे नुक़सान पहुँचाते, मैंने उन्हें मार डाला।

उसने वाक़या कुछ ऐसे अंदाज़ में बताया कि दोस्त सोचने लगा कि वे नए कीड़े कौन से थे। उसने पूछा कि क्या मरे हुए कीड़े अब भी मौजूद हैं, मैं उन्हें देख लूँ। फिर उस आदमी ने अपने दोस्त को दोनों कीड़े दिखाए। दोस्त ने कहा कि तुमने बड़ी नादानी की। तुम जानते नहीं, ये तो मेंटिस है, और मेंटिस सब्ज़ी खाने वाला कीड़ा (herbivorous) नहीं, बल्कि माना हुआ गोश्तखोर कीड़ा (carnivorous) है। वह यहाँ कुदरत की तरफ़ से तुम्हारी मदद के लिए आया था। उसकी फितरत के खिलाफ़ था कि वह कोई सब्ज़ी खाए। वह तुम्हारी सब्ज़ियों को ज़रा भी नुकसान नहीं पहुँचाता। वह तो सिर्फ़ उन्हीं कीड़ों को खाता है जो सब्ज़ियों को नुकसान पहुँचाते हैं और जिन्हें ख़त्म करना तुम्हारे लिए बहुत मुश्किल है। तुम कैसे नादान निकले कि अपना फ़ायदा और नुक़सान न समझ सके। तुमने अपने एक क़ीमती चौकीदार को मार डाला।

दोस्त की ज़बान से ये बातें सुनते ही उस आदमी की ज़बान बंद हो गई। उसे अपने किए पर बहुत अफ़सोस हुआ। यहाँ तक कि वह बीमार पड़ गया और कई दिन तक काम करने के क़ाबिल न रहा।

यह एक मिसाल है, जिससे अंदाज़ा होता है कि ग़लतफ़हमी किसी आदमी से कितनी बड़ी-बड़ी ग़लती करवा सकती है। यहाँ तक कि यह भी हो सकता है कि एक शख्स सख्त ग़लतफ़हमी में पड़कर दूसरे शख्स की जान ले ले, हालाँकि दूसरा शख्स बिलकुल बेक़सूर हो। वह किसी आदमी की बेइज़्ज़ती पर उतर आए, जबकि असल हक़ीक़त के लिहाज़ से वह ऐसा आदमी हो कि उसके साथ बहुत इज़्ज़त और एहतराम का बर्ताव किया जाए।

इसीलिए शरीअत में हुक्म है कि राय क़ायम करने या किसी के खिलाफ़ क़दम उठाने से पहले उसके मामले की पूरी तहक़ीक़ करो। ऐसा कभी न करो कि किसी के खिलाफ़ एक ख़बर सुनो और तुरंत उसे मान लो, और उसके खिलाफ़ कोई बुरा क़दम उठा बैठो। मुमकिन है कि तहक़ीक़ के बाद तुम्हें मालूम हो कि जो खबर तुम्हें पहुँची थी, वह सरासर ग़लत और बेबुनियाद थी:

> "ऐ ईमान वालो, अगर कोई अवज्ञाकारी तुम्हारे पास कोई ख़बर लाए तो तुम अच्छी तरह जाँच कर लिया करो, कहीं ऐसा न हो कि तुम किसी समूह को अज्ञानतावश कोई नुक़्सान पहुँचा दो, फिर तुम्हें अपने किए पर पछताना पड़े।" (49:6)।

ग़लत ख़बर सुनकर उसके अंजाम से बचने की तरकीब बहुत आसान है— यह कि किसी बात को सुनने के बाद तब तक उसे न माना जाए जब तक सीधे ज़रियों से उसकी तहक़ीक़ न कर ली जाए।

लाभ पहुँचाने की ताक़त

Hindustan Times (20 जुलाई 1990) के रिपोर्टर भवानी सेन गुप्ता ने सोवियत यूनियन के बारे में एक रिपोर्ट छापी थी, जिसका शीर्षक था—A new USSR is emerging.

इस रिपोर्ट में उन्होंने लिखा कि एक मशहूर रूसी विशेषज्ञ ने उनसे कहा, "संयुक्त राज्य अमेरिका सोवियत संघ (यू.एस.एस.आर.) का पहला प्रेम नहीं होगा। उसका पहला प्रेम एकीकृत यूरोप होगा। उसके बाद जापान, अमेरिका और कनाडा आएँगे।"

"और भारत का क्या स्थान होगा?" मैंने आश्चर्य और हल्के मनोरंजन के मिश्रित भाव से पूछा।

अकादमिक ने शांत भाव से उत्तर दिया, "भारत अलग है। भारत हमारा पहला, दूसरा या तीसरा प्रेम नहीं है। भारत तो हमारा सदैव का प्रेम है।"

> An outstanding Soviet specialist in international affairs told me, "The United States will not be the first love of the U.S.S.R. The first love will be united Europe. And then Japan, the U.S. and Canada.'' "What about India?'' I asked with mixture of surprise and amusement. "India is special'', the academician replied placidly. "India is not our first or second or third love. It is our love-for-ever''. (p. 1)

पिछले चालीस साल से हमारी सरकार हमें यह विश्वास दिलाती रही कि रूस हमारा सबसे बड़ा दोस्त है, लेकिन इस बयान से साफ़ हुआ कि अब रूस ने इंडिया को सिर्फ़ औपचारिक रिश्ता समझ लिया है। वजह बहुत सीधी है—पहले रूस को हमारी ज़रूरत थी, अब नहीं। पहले रूस हमें अमेरिका के ख़िलाफ़ इस्तेमाल करता था, पर जब रूस और अमेरिका में सुलह हो गई, तो हमारी अहमियत खत्म हो गई। अब रूस उन्हीं देशों को अहमियत देता है जो उसकी नई आर्थिक तरक्की में मदद कर सकें—यानी यूरोप और जापान, न कि इंडिया। किसी व्यक्ति या राष्ट्र की अहमियत का असली राज़ यही है कि वह दूसरों के लिए ज़रूरत बन जाए। इसके सिवा हर बुनियाद झूठी होती है, जो पहले ही झोंके में ढह जाती है।

Hindustan Times (28 दिसंबर 1990) में एन. सी. मेनन ने लिखा कि जब गोरबाचेव भारत आए, तब राजीव गांधी ने इंडिया, चीन और सोवियत यूनियन के बीच नज़दीकी तालमेल का सुझाव दिया था ताकि अमेरिका और यूरोप के उभरते संघ का मुक़ाबला किया जा सके। मगर गोरबाचेव ने साफ़ कहा, "हमें इस वक़्त सबसे ज़्यादा नई टेक्नोलॉजी की ज़रूरत है—और नई टेक्नोलॉजी न चीन हमें दे सकता है, न इंडिया।":

> It is not generally known that when Soviet President Mikhail Gorbachev visited India, then Prime Minister Rajiv Gandhi had suggested closer cooperation among India, China and the Soviet Union as a friendly counterpoise to the US giant (and perhaps to the emerging European conglomerate). President Gorbachev responded with brutal frankness that what we need desperately is new technology, and neither China nor India can give us that. (p.13)

पिछले चालीस साल तक रूस ने "पूंजीवादी पश्चिम" को दुश्मन और "समाजवादी भारत" को दोस्त समझा, मगर लंबे अनुभव के बाद उसे मालूम हुआ कि इंडिया से उसे कोई फ़ायदा नहीं, जबकि पश्चिम उसकी तरक्की में मददगार हो सकता है। इस तरह रूस ने इंडिया को छोड़कर उन्हीं पूंजीवादी मुल्कों से दोस्ती कर ली।

पूंजीवादी देशों ने अपनी लाभ पहुँचाने की क्षमता से अपने सबसे बड़े दुश्मन को जीत लिया, और समाजवादी भारत ने अपने ग़ैर-लाभकारी होने की वजह से अपने सबसे बड़े दोस्त को खो दिया—यही आज की दुनिया में कामयाबी का असली राज़ है। इस दुनिया में सफलता उन्हीं को मिलती है जो दूसरों के लिए फ़ायदेमंद साबित हों, न कि सिर्फ़ बातें बनाने वालों को।

यक़ीनी हल

अल-रिसाला (अक्टूबर 1986) पढ़कर एक साहब ने 7 अक्टूबर 1986 को एक लंबा ख़त लिखा। उसमें उन्होंने लिखा—"आपका सफ़रनामा न सिर्फ़ जानकारी भरा होता है बल्कि अंदाज़-ए-बयान के लिहाज़ से भी अनोखा होता है। इस बार भी बंबई का सफ़रनामा ऐसा ही था। उसमें हीरालाल ड्राइवर से आपकी मुलाक़ात और एक्सिडेंट से बचने की तरकीब के बारे में आपके सवाल का जवाब पढ़कर मुझे एक घटना याद आ गई।"

एक टैक्सी ड्राइवर ने अपनी 55 साल की ज़िंदगी में कभी भी एक्सिडेंट नहीं किया। एक बार वह सेफ़ ड्राइविंग पर लेक्चर दे रहा था। उसने कहा, "मुझे यह बताने में एक मिनट भी नहीं लगेगा कि सुरक्षित ड्राइविंग कैसे की जाती है। इसका तरीक़ा बहुत आसान है—गाड़ी चलाते समय बस यह सोचिए कि आप के सिवा दुनिया का हर ड्राइवर पागल है।" (मुहीउद्दीन मोहम्मद, हैदराबाद)

'पागल' वह कहलाता है जिससे किसी तरह की उम्मीद नहीं की जा सकती। और जहाँ सामने वाले से कोई उम्मीद न हो, वहाँ दोतरफ़ा सोच बेकार होती है। ऐसे मौक़ों पर हमेशा एकतरफ़ा सोच ही सही होती है—यानी खुद को ज़िम्मेदार मानना। हर कोई जानता है कि पागल से लड़ना नहीं, बल्कि उससे बचना चाहिए। पागल का हल टकराव नहीं, बल्कि किनारा करना है। जो ड्राइवर दूसरे ड्राइवर को पागल समझ ले, वह कभी शिकायत नहीं करेगा। वह पूरी तवज्जोह खुद पर देगा—कहीं अपनी गाड़ी रोक लेगा, कहीं पीछे हट जाएगा, और किनारे से निकल जाएगा। सड़क का जो मुसाफ़िर इस तरह सारा बोझ खुद पर ले ले, वह कभी सड़क हादसे का शिकार नहीं हो सकता।

उस ड्राइवर ने एक लफ़्ज़ में ज़िंदगी का राज़ बता दिया—यानी दूसरों से कुछ उम्मीद मत रखो। सारी ज़िम्मेदारी खुद पर लो, और फिर तुम यक़ीनन हादसे से बचे रहोगे।

ड्राइवर ने जो बात सड़क हादसे के बारे में कही, वही बात ज़िंदगी के दूसरे हादसों पर भी लागू होती है। इंसान अगर चाहे तो ज़रूर सामाजिक टकरावों से बच

सकता है—बस शर्त यह है कि वह एकतरफ़ा तौर पर खुद को ज़िम्मेदार माने। यही तरीक़ा असली और यक़ीनी हल है, जैसा उस ड्राइवर ने अपनाया और अपनी लंबी ड्राइविंग ज़िंदगी में कभी एक्सिडेंट से दोचार नहीं हुआ।

अगर स्वास्थ्य-विज्ञान की दृष्टि से देखें तो दुनिया में पागल लोगों की तादाद मुश्किल से एक प्रतिशत होगी, मगर दूसरे मायनों में दुनिया के 99 फ़ीसद लोग संभावित पागल हैं। आम हालात में वे ठीक लगते हैं, लेकिन जब उनका निजी फ़ायदा, उनकी "मैं" या अहंकार को ठेस लगती है, या जब वे किसी पुराने दुश्मन से टकराते हैं उनका सामना किसी ऐसे व्यक्ति से हो जिससे उनकी कहा-सुनी हो गई हो, तो शरीफ़ आदमी भी गैर-शरीफ़ बन जाता है, और समझदार इंसान भी पागलपन पर उतर आता है।

एक बार हैदराबाद से महबूबनगर जाते हुए मेरे साथ एक सीख देने वाली घटना हुई। हमारी कार तेज़ चल रही थी कि अचानक सड़क पर एक बैल आ गया। ड्राइवर ने न तो बैल पर गुस्सा किया और न गाड़ी भगाई। उसने फ़ौरन ब्रेक लगाई, बैल की चाल देखी, और जब बैल आधी सड़क पार कर चुका था और साफ़ हुआ कि वह पूरब की ओर जा रहा है, तब ड्राइवर ने गाड़ी पश्चिम की ओर मोड़ी और किनारे से निकल गया। ज़िंदगी के मसले हमेशा एकतरफ़ा कार्रवाई से हल नहीं होते हैं। जो लोग दोतरफ़ा सोच के साथ चलना चाहते हैं, उनके लिए इस दुनिया में बस यही मुक़द्दर है—वे बेफ़ायदा शिकायतें करते रहें और आख़िरकार उसी हालत में दुनिया से चले जाएँ।

जंग के बिना जीत

मिस्टर रिचर्ड निक्सन 1968 से 1974 तक अमेरिका के राष्ट्रपति रहे। उन्होंने अपनी यादों पर आधारित एक किताब प्रकाशित की है जिसका नाम है—1999, जंग के बिना जीत:

Richard Nixon,1999: Victory Without War

इस किताब में जो बातें कही गई हैं, उनमें से एक बात अमेरिका और जापान के आपसी संबंधों के बारे में है। इस सिलसिले में मिस्टर निक्सन ने जो बातें लिखी हैं, उनमें से एक बात संक्षिप्त में यह है:

> The Americans decimated Japan in 1945, and after World War II, rebuilt it with enormous economic backing as a model country to disprove the communist ideology that poverty cannot be removed through the process of capitalism. Democracy was planted on its territory in place of the ancient monarchy. Its constitution was written by the Americans. Its defence was controlled from Washington DC. After 35 years of this experiment, bitter economic disagreements have clouded US-Japan relations in recent years. There is a terrific trade imbalance. In 1986, Japan sold goods to the US valued at $60 billion, exceeding the goods purchased from the US, contributing to the total American trade deficit of $170 billion. Indigenous rice production costs Japan $2,000 a ton, yet it is not prepared to buy rice from its benefactor, the US, offered at $180 a ton with a view to protecting Japanese farmers. The US is sore that the "Japanese have closed their markets to American goods'' (p.2).

अमेरिकियों ने 1945 में जापान पर एटम बम से हमला करके उसके बड़े हिस्से को तबाह कर दिया। फिर दूसरे विश्वयुद्ध के बाद उन्होंने ज़बरदस्त आर्थिक मदद से जापान की दोबारा तामीर (निर्माण) की। जापान के साथ यह मामला उन्होंने अपने निजी मक़सद के लिए, एक मिसाल के तौर पर, उठाया। इसका मक़सद

यह था कि उस समाजवादी नज़रिये को ग़लत साबित कर सकें कि ग़रीबी को पूंजीवादी व्यवस्था के तहत ख़त्म नहीं किया जा सकता।

चुनांचे जापान में प्राचीन बादशाहत की जगह जम्हूरियत (लोकतंत्र) लाई गई। अमेरिकियों ने खुद वहाँ का संविधान लिखकर तैयार किया। उसकी रक्षा पूरी तरह वाशिंगटन के अधीन कर दी गई।

इस तजुर्बे के 35 साल बाद कड़वे आर्थिक मतभेदों के बादल अमेरिका और जापान के रिश्तों पर छा गए। दोनों देशों के बीच कारोबार का संतुलन बेहद खराब हो गया। 1986 में अमेरिका ने जितना सामान जापान को बेचा, उसके मुक़ाबले जापान ने साठ बिलियन डॉलर के बराबर ज़्यादा सामान अमेरिका को बेचा। स्पष्ट रहे कि उस साल अमेरिका का कुल व्यापार घाटा 170 बिलियन डॉलर था। जापान इस पोजीशन में हो चुका था कि उसने अमेरिकी चावल की खरीद के लिए 180 डॉलर फी टन की पेशकश को रद्द कर दिया जबकि उसे अपने मुल्क में चावल पैदा करने के लिए 2000 डॉलर फी टन खर्च करना पड़ता है। अब अमेरिका को यह शिकायत है कि जापानियों ने अमेरिकी सामान के लिए अपने बाजार बंद कर दिए हैं। (*टाइम्स ऑफ इंडिया*, 2 अप्रैल 1989)

दूसरे विश्वयुद्ध के बाद अमेरिका की स्थिति जीतने वाली थी और जापान की स्थिति हारे हुए की। लेकिन जीतने वाले ने अपने फ़ायदे के लिए जो क़दम उठाए, हारे हुए ने उन्हें अपने फ़ायदे में बदल लिया। यही आज की दुनिया की असली परीक्षा है। इस दुनिया में वही लोग सफल होते हैं जो दुश्मन की विरोधी चालों को भी अपने अपने हक़ में कर लें, जो दुश्मन की चालों को सीढ़ी बनाकर आगे बढ़ जाएँ।

इस दुनिया में हार भी जीत का रास्ता खोलती है। यहाँ बिना लड़ाई के भी कामयाब मुकाबला किया जाता है। लेकिन यह सब समझदार लोगों के लिए है। नादान लोगों के लिए अल्लाह की इस दुनिया में कोई वास्तविक सफलता नहीं है। उनके लिए जीत भी हार है और हार भी हार।

कार्य-कुशलता

कमाना मुश्किल है, लेकिन खर्च करना उससे भी ज़्यादा मुश्किल है। जो इंसान सही तरह से खर्च करना जानता है, वह कम आमदनी में भी ज़्यादा आमदनी वाली ज़िंदगी जी सकता है। इसके उलट, जो इंसान ठीक तरह से खर्च करना न जाने, वह ज़्यादा कमाई के बावजूद भी कम कमाने वालों जैसी परेशानियों में फँसा रहेगा। सच यह है कि जो शख्स समझदारी और बचत के साथ खर्च करना सीख ले, उसे मानो अपनी आमदनी बढ़ाने का हुनर आ गया। उसने ज़्यादा कमाए बिना ही अपनी आमदनी बढ़ा ली। खर्च करने से पहले उतना ही सोचिए, जितना कमाने से पहले सोचते हैं। जो भी करें, सोच-समझकर करें, फिर आपको कभी पैसों की तंगी का सामना नहीं करना पड़ेगा।

फ़िज़ूलखर्ची को आर्थिक तंगी का दूसरा नाम कहा जा सकता है, और बचत को आर्थिक सुख का दूसरा नाम। इस बात को समझाने के लिए यहाँ दो घटनाएँ पेश की जाती हैं। मुझे एक व्यक्ति का किस्सा मालूम है। उन्होंने एम.एस.सी किया। उसके बाद उन्हें 400 रुपये महीने की नौकरी मिली। उन्होंने तय किया कि इस रक़म में से मैं सिर्फ दो सौ रुपये को अपनी असली आमदनी मानूँगा और बाक़ी दो सौ रुपये सेविंग अकाउंट में जमा करूँगा। उनकी तनख्वाह बढ़ती रही—एक हज़ार, दो हज़ार, तीन हज़ार, चार हज़ार, पाँच हज़ार। लेकिन उन्होंने हमेशा कुल तनख्वाह के आधे हिस्से को ही अपनी आमदनी माना और बाक़ी आधा हर महीने बैंक में जमा करते रहे।

इस तरह की दस साल की ज़िंदगी गुज़ारने के बाद उन्होंने अपना अकाउंट देखा तो मालूम हुआ कि उनके अकाउंट में एक बड़ी रक़म जमा हो चुकी है। अब उन्होंने सर्विस छोड़कर बिज़नेस शुरू कर दिया। आज वे अपने बिज़नेस में काफ़ी तरक्क़ी कर चुके हैं, मगर ज़िंदगी का जो तरीक़ा उन्होंने शुरुआत में इख्तियार किया था, वे आज भी उसी पर डटे हुए हैं वे निहायत कामयाबी से एक खुशहाल ज़िंदगी गुज़ार रहे हैं।

अब इसके उलट मिसाल लीजिए। एक साहब को विरासती बटवारे में एक साथ एक लाख रुपये मिले। उन्होंने उससे कपड़े की दुकान खोली। दुकान बहुत जल्द कामयाबी के साथ चलने लगी। मगर चंद साल के बाद उनकी दुकान खत्म हो गई। इसकी वजह यह थी कि वे आमदनी और लागत के बीच के फर्क को नहीं समझ पाए। जैसे उनकी दुकान पर अगर 5 हज़ार रुपये का कपड़ा बिकता था, तो उसमें साढ़े चार हज़ार रुपये लागत होती थी और सिर्फ 500 रुपये आमदनी के होते थे। लेकिन वे दुकान में आई हुई रक़म को ऐसे खर्च करने लगते थे मानो पूरे 5 हज़ार रुपये उनकी आमदनी हों।

यह साफ बात है कि यह फिजूलखर्ची की सबसे बुरी शक्ल थी। इसलिए कुछ ही सालों में वे कंगाल हो गए।

इस दुनिया में सलीक़े से जीना ही खुशहाली है, और बिना सलीक़े के जीना ही बदहाली।

****

एक रिवायत के मुताबिक़, पैगंबर-ए-इस्लाम (सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम) ने कहा: यह फिजूलखर्ची है कि तुम हर वह चीज़ खाओ जिसे खाने का तुम्हारा मन चाहे। (सुनन इब्न माजह, हदीस संख्या 3352) उमर फ़ारूक़ (रज़ि०) ने भी इसी बात को इस तरह कहा: किसी इंसान के फ़िज़ूलखर्च होने के लिए इतना ही काफ़ी है कि वह हर वह चीज़ खाए जिसे उसका मन चाहता हो। (*अज़-ज़ुह्द व अल-रक़ाइक़*, इब्ने मुबारक, असर संख्या 769)

सर्फ़ और इसराफ़ का मतलब फ़िज़ूलखर्ची (waste) है—यानी अपने पैसे को ऐसी चीज़ पर खर्च करना, जो इंसान के लिए ज़रूरी न हो, बल्कि सिर्फ उसकी इच्छा (desire) हो, असली ज़रूरत (need) न हो। हर इंसान दो बातों के बीच होता है—ज़रूरत और इच्छा। ज़रूरत के अनुसार खर्च करना बिल्कुल सही है। लेकिन सिर्फ इच्छा पूरी करने के लिए पैसा खर्च करना ऐसा काम है जिसका हिसाब इंसान को आख़िरत की अदालत में देना पड़ेगा।

उम्मीद का पैग़ाम

क़ुरआन में कुछ मानवी कठिनाइयों का ज़िक्र करते हुए कहा गया है कि जब ऐसी प्रतिकूल स्थिति पैदा हो जाए, तो सब्र और तवक्कुल (अल्लाह पर भरोसा) का तरीक़ा इख़्तियार करो। अल्लाह तुम्हारा संरक्षक है। वह तुम्हारे लिए मुश्किल के बाद आसानी पैदा कर देगा (क़ुरआन 65:7)।

जिस तरह हमारी धरती लगातार घूम रही है, उसी तरह इंसान के हालात भी बदलते रहते हैं। इंसान को चाहिए कि वह किसी भी स्थिति में मायूस न हो, हमेशा आशा को निराशा से ऊपर रखे। वर्तमान हालात के आधार पर उसे कभी भविष्य पर अपना भरोसा नहीं खोना चाहिए।

रात के आने को अगर आज के हिसाब से देखें तो वह अँधेरे का आना लगता है, लेकिन कल के हिसाब से देखें तो वही रोशन सुबह की भूमिका बन जाता है। पतझड़ का मौसम प्रत्यक्ष रूप से सूखे पत्तों का मौसम दिखता है, लेकिन भविष्य की नज़र से देखें तो वही बसंत का हरा-भरा मौसम आने की खबर देता है।

यह प्रकृति का अटल नियम है। यह नियम आम भौतिक दुनिया पर भी लागू होता है और इंसानों की जीवित दुनिया पर भी। इसमें कभी कोई बदलाव नहीं होता। जब दुनिया की रचना इसी तरह हुई है, तो कोई इंसान यहाँ मायूस क्यों हो? जब यहाँ हर अँधेरा आखिरकार रोशनी में बदलने वाला है, तो अस्थायी हालात से घबराने की क्या जरूरत? अगर इंसान यहाँ किसी मुश्किल में फँस जाए, तो उसे चाहिए कि धैर्य और समझदारी के साथ निकलने की कोशिश करे। और अगर मान लीजिए उसमें कोशिश करने की ताक़त भी न हो, तब भी उसे चाहिए कि खुदा पर भरोसा रखते हुए आने वाले कल का इंतज़ार करे।

इस दुनिया में जैसे मेहनत एक काम है, वैसे ही इंतज़ार भी एक काम है। जो व्यक्ति मेहनत न कर पाए, उसे चाहिए कि वह इंतज़ार का सबूत दे। अगर उसने सच्चे दिल से इंतज़ार किया, तो हो सकता है कि वह इंतज़ार के ज़रिए वही चीज़ पा

ले जिसे दूसरे लोग मेहनत के रास्ते से हासिल करने में लगे हुए हैं। प्रकृति का सिस्टम अपने अंतिम फैसले को पूरा करने के लिए खुद काम कर रहा है—बस इंसान तय समय तक इंतज़ार करने की हिम्मत रखे।

अरबी का एक मशहूर कथन है: "बहुत-सी नुकसान देने वाली चीज़ें भी फायदे देने वाली होती हैं"। यह बात बहुत गहरी है। यह ज़िंदगी की एक अहम सच्चाई बताती है—इस दुनिया में कोई भी नुकसान सिर्फ नुकसान नहीं होता। यहाँ हर कठिनाई के साथ आसानी भी रहती है। हर नुकसान के साथ किसी न किसी लाभ की संभावना जुड़ी होती है। जब इंसान किसी मुश्किल से गुज़रे, तो उसे चाहिए कि वह मायूस होकर बैठ न जाए, बल्कि अपने दिमाग़ को सोचने पर लगाए। हो सकता है कि वह ऐसा रास्ता खोज ले जो न सिर्फ उसके नुक़सान की भरपाई करे, बल्कि उसे और भी सफलता दिला दे।

एक व्यक्ति देहात में एक ज़मींदार परिवार में पैदा हुआ। 1925 में उसके पिता का देहांत हो गया, तब उसकी उम्र सिर्फ 6 साल थी। पिता की मौत के बाद परिवारवालों ने सारी ज़मीन पर कब्ज़ा कर लिया। उसे सिर्फ एक छोटा सा घर मिला। मजबूर होकर वह दस साल की उम्र में कमाने निकल पड़ा। वह गाँव छोड़कर शहर आ गया। कई साल तक मजदूरी करता रहा। हालात ने उसे एक हाथ के हुनर वाले काम में लगा दिया। वह मेहनत करता रहा और तरक्की करता गया। धीरे-धीरे उसने एक कारखाना खोल लिया। उसकी तरक्की जारी रही। जब 70 साल की उम्र में उसकी मौत हुई, तब वह एक बड़ा उद्योगपति था। उसने करोड़ों की संपत्ति छोड़ी।

अगर उसके साथ वह शुरुआती मुश्किल न आती—अगर गाँव की सारी ज़मीन उसे मिल जाती—तो वह उसी में लगा रहता। वह किसान के तौर पर जीता और किसान के तौर पर मर जाता। लेकिन कठिनाई और नुकसान ने उसे ऊपर उठा दिया। उसके कड़वे अनुभवों ने उसे खेती के ज़माने से निकालकर उद्योग के ज़माने में पहुँचा दिया।

ज़िंदगी के अवसरों की कोई सीमा नहीं। हर बार जब एक अवसर खत्म होता है, तो वहीं एक बड़ा अवसर इंसान के लिए मौजूद होता है। फिर इंसान मायूस क्यों हो? नुक़सान पर चीख़-पुकार और एहतेजाज क्यों करे? वह नए अवसर को क्यों न अपनाए—वही अवसर उसकी शाम को फिर से एक रोशन सुबह में बदल सकता है।

इंसान को चाहिए कि जब एक अवसर उसके हाथ से निकल जाए, तो वह खोई हुई चीज़ के शोक में अपना समय बर्बाद न करे। बल्कि नए अवसर को पहचानकर उसका उपयोग शुरू कर दे। हो सकता है कि इसी कोशिश से वह पहले से भी ज़्यादा बड़ी सफलता हासिल कर ले।

सफलता का राज़

टाटा परिवार ने उद्योग (बिज़नेस) के क्षेत्र में भारत में बहुत बड़ी तरक़्क़ी की है। उनका कारोबार इतना बढ़ चुका है कि लोग उसे टाटा औद्योगिक साम्राज्य कहते हैं। यह सफलता उन्हें यूँ ही नहीं मिली। बल्कि इसके पीछे स्पष्ट कारण हैं। इन कारणों में सबसे अहम वे नैतिक गुण हैं जिनका सबूत वे लगभग डेढ़ सौ साल से वे लगातार देते आए हैं।

1. औद्योगिक सफलता की यह कहानी गुजरात के एक पारसी व्यापारी जमशेदजी नुशेरवांजी टाटा (1839–1904) से शुरू होती है। उन्होंने 1868 में बंबई में 21 हज़ार रुपये लगाकर एक व्यापारिक कंपनी शुरू की। जमशेदजी टाटा के बाद उनके बड़े बेटे, दोराबजी टाटा, ने इस कंपनी को आगे बढ़ाया। टाटा स्टील का कारखाना—टाटा स्टील—स्थापित किया गया। यह छोटी शुरुआत बढ़ते-बढ़ते आज एक बड़ा औद्योगिक साम्राज्य बन गई है। लेकिन टाटा समूह पूरे मज़बूत इरादे और एकता के साथ अपने काम में लगा रहा। कोई भी चीज़ उनके इस इरादे और एकता को तोड़ नहीं सकी।

2. दोराबजी टाटा के बाद जे.आर.डी. टाटा ने 1938 में इस कारोबार को बहुत आगे बढ़ाया। उन्हें सही मायनों में एक दूरदर्शी (great visionary) कहा जाता है। उनकी दूरदर्शिता का एक बड़ा प्रमाण यह है कि उन्होंने सबसे पहले भारत में हवाई यात्रा की महत्वता को समझा। वे पहले भारतीय पायलट थे जिन्हें मार्च 1929 में हवाई जहाज़ उड़ाने का लाइसेंस मिला। 1932 में पहली हवाई कंपनी टाटा एयरवेज के नाम से शुरू की गई। आज़ादी के बाद 1947 में भारत सरकार ने टाटा एयरवेज में बड़ा हिस्सा खरीदकर उसे अपने नियंत्रण में ले लिया और उसका नाम एयर इंडिया रख दिया।

3. जहाँगीर रतनजी दादाभाई टाटा (JRD Tata, 1904–1993) बहुत बड़े दिल और उदार स्वभाव वाले व्यक्ति थे।

   1930 में आग़ा ख़ान ने घोषणा की कि जो व्यक्ति इंग्लैंड और भारत के बीच सबसे कम समय में हवाई जहाज़ उड़ाकर जाएगा, उसे बड़ा इनाम दिया जाएगा। इस घोषणा पर जे.आर.डी. टाटा ने कराची से अपनी उड़ान शुरू की। एक दूसरा व्यक्ति लंदन से उड़ा। दोनों बीच में ईंधन भरने के लिए क़ाहिरा में उतरे।

   वहाँ टाटा को पता चला कि उनके प्रतिद्वंद्वी को एक पुर्ज़े की ज़रूरत है। उसे तब तक क़ाहिरा एयरपोर्ट पर रुकना पड़ेगा जब तक वह पुर्ज़ा इंग्लैंड से न आ जाए। यह टाटा के लिए बिना मुकाबले के जीतने का सुनहरा मौक़ा था। लेकिन उन्होंने उदारता दिखाते हुए वह पुर्ज़ा अपने पास से उसे दे दिया। इस बड़े दिल का नतीजा यह हुआ कि प्रतिद्वंद्वी जीत गया। लेकिन टाटा ने कभी भी इस बात पर कोई शिकायत या दुख प्रकट नहीं किया।

4. इंसानी सम्मान के मामले में जे.आर.डी. टाटा बहुत हस्सास (संवेदनशील) थे। अधिकार होने के बावजूद वे अपनी राय दूसरों पर ज़बरदस्ती नहीं थोपते थे। वे हमेशा समझाकर मनाने का तरीक़ा (persuasion method) अपनाते थे। एक बार उनकी कंपनी के एक डायरेक्टर ने एक लिफ्ट पर नोटिस लगा दिया कि यह लिफ्ट सिर्फ डायरेक्टर ही इस्तेमाल कर सकते हैं।

> जब टाटा को इसका पता चला, तो वे तुरंत वहाँ पहुँचे और अपने हाथ से उस नोटिस को फाड़कर फेंक दिया (*हिंदुस्तान टाइम्स*, 3 फ़रवरी 1992)।

इस दुनिया में सफलता का राज़, एक शब्द में कहा जाए तो वह सिद्धांतवादी होना है। यहाँ वही इंसान सफल होता है जो सिद्धांतों के अनुसार जीवन बिताता है, और जो सिद्धांतों से हटता है, वह असफल होता है।

सिद्धांत क्या है? सिद्धांत का मतलब है—वास्तविकताओं के अनुसार चलना। अगर हालात स्थिरता (मज़बूती) माँगते हों, तो अस्थिर स्वभाव वाला इंसान यहाँ सफल नहीं हो सकता। अगर हालात दूरदर्शिता का साथ देते हों, तो दूरदर्शिता के ख़िलाफ़ चलकर सफलता पाना असंभव है।

अगर हालात यह मांग करते हों कि लोगों के स्वभाव की क़द्र की जाए, तो उनके स्वभाव के खिलाफ़ चलकर सफलता नहीं मिल सकती।

और यह भी कि सिद्धांतों को लाभ-हानि से ऊपर उठकर अपनाना चाहिए। अगर कोई व्यक्ति ऐसा करे कि जहाँ फ़ायदा दिखे वहाँ वह सिद्धांत अपनाए, और जहाँ फ़ायदा न दिखे वहाँ सिद्धांत छोड़ दे—तो उसे सिद्धांतवादी नहीं कहा जा सकता।

जो इंसान सिद्धांतों को अपने फ़ायदे के अनुसार बदलता है, वह इस दुनिया में छोटी सफलता तो पा सकता है, लेकिन बड़ी सफलता सिर्फ उसी को मिलती है—जो सिद्धांतों को सिर्फ सिद्धांतों के लिए अपनाए,और बिना किसी स्वार्थ के उन पर कायम रहे।

तजुर्बे की ज़बान से

पाकिस्तान के एक मुसलमान अपने भारतीय रिश्तेदारों से मिलने के लिए अक्सर भारत आते रहते हैं। भारत में उनका पता है:

आगा ग़यासुर्रहमान अंजुम,

जान सन्स कार्पेट मैन्युफैक्चरर्स,

कमर्शियल स्ट्रीट,

बंग्लोर।

उनका एक विस्तृत पत्र हमें मिला है। उसमें उन्होंने अपने तीन अनुभव लिखे हैं। उनके पत्र का शुरुआती हिस्सा उनके अपने शब्दों में यहाँ पेश है:

> मेरा संबंध पाकिस्तान से है। अपने रिश्तेदारों से मिलने मैं अक्सर बंग्लोर आता रहता हूँ। इस बार जब भारत आया तो अल-रिसाला का जनवरी 1992 का अंक देखने का मौक़ा मिला। उसमें एक घटना "ख़ून के बजाय पानी" शीर्षक से पढ़ी तो भारत के संबंध में मेरे तीन निजी अनुभव याद आ गए। इन्हें संक्षेप में लिख रहा हूँ। इन घटनाओं से मेरा यह विश्वास और मजबूत हो गया कि अगर दिल में तंगी और नफरत की जगह दूसरों के लिए मोहब्बत और खुलापन हो, व्यवहार में सख्ती के बजाय नरमी हो, और भाषा में कड़वाहट की जगह मिठास हो—तो पूरी दुनिया अमन और एकता से भर सकती है।

पहली घटना 1982 की है। मैं, मेरी पत्नी, बेटी और किशोर बेटा ट्रेन से दिल्ली से बंग्लोर जा रहे थे। जिस डिब्बे में हमें जगह मिली वह छोटा था, और उसमें लगभग पंद्रह और यात्री थे, जिनका संबंध भारत से और हिंदू धर्म से था। उनमें ज़्यादातर युवा थे, जो बंग्लोर के किसी शैक्षणिक संस्थान में पढ़ते थे और छुट्टियाँ बिताकर लौट रहे थे। हमारी सादगी और बेझिझक स्वभाव की वजह से वे युवा हमसे बहुत जल्दी घुल-मिल गए। मेरी दाढ़ी और मेरे परिवार की नमाज़ की पाबंदी देखकर उनके मन में हमारे बारे में यह धारणा बनी कि हम धार्मिक परिवार से हैं। इसलिए आम बातों के साथ-साथ दुनिया के हालात, मौसम और क्षेत्रीय राजनीति से होती हुई बातचीत धर्म के विषयों तक पहुँच गई। उनमें से एक

हिंदू युवक बात करने में सबसे आगे था। उसकी बातों से पता चलता था कि वह तेज़-तर्रार है और अपने धर्म के बारे में अच्छी जानकारी रखता है।

कई सवाल-जवाब के बाद उसी युवक ने एक ऐसा सवाल पूछा जिसके जवाब पर डिब्बे का पूरा माहौल बदल गया। ऐसा महसूस हुआ जैसे हम सब अलग नहीं बल्कि एक ही बिरादरी से हैं—और हमारे बीच दूरी या अलगाव जैसी कोई चीज़ रही ही नहीं।

उस युवक का सवाल यह था: "हमारे कृष्ण जी महाराज के बारे में आपका क्या विचार है?"

मैंने जवाब दिया: "मैं आपको एक सिद्धांत बताता हूँ। कुरआन और पैग़ंबर इस्लाम (सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम) की शिक्षा के अनुसार किसी मुसलमान को यह हक़ नहीं है कि वह किसी भी धर्म के गुरुओं या धार्मिक व्यक्तियों के बारे में बुरा बोले। बल्कि आदेश यह है कि हम हर धर्म के अग्रणी व्यक्तियों और बड़े-बुज़ुर्गों का सम्मान करें। इसलिए इस नियम के अनुसार हम श्री कृष्ण जी महाराज और अन्य सभी धर्मों के महापुरुषों का सम्मान करने और उनकी इज़्ज़त करने के पाबंद हैं।"

यह सुनते ही उस युवक ने मेरा हाथ पकड़ लिया और कहा:"अगर दुनिया के सारे धार्मिक लोग आपकी तरह हो जाएँ, तो यह झगड़े, हिंसा और रोज़-रोज़ होने वाले दंगे हमेशा के लिए ख़त्म हो जाएँ।"

मैंने मौक़े का फ़ायदा उठाते हुए कहा:"अगर ऐसा है तो आप सब मुझसे वादा कीजिए कि आप अपनी पूरी ज़िंदगी में लोगों के दिलों से नफ़रतें और दुश्मनी दूर करेंगे, और उनके दिलों में मेल-जोल, प्यार और आपसी समझ-बूझ के बीज बोएँगे।" सभी युवकों ने मुझसे यह वादा किया।

लंबे सफर के दौरान हुई इस बातचीत का एक और सुखद नतीजा यह निकला कि हमें बंग्लोर कैंट स्टेशन पर उतरना था और उन्हें बंग्लोर सिटी स्टेशन पर। हमारी मंज़िल पहले आ गई। जैसे ही गाड़ी स्टेशन पर रुकी, उन युवकों ने किसी

कुली को हमारे सामान के पास नहीं आने दिया, और न ही हमें सामान छूने दिया। हर युवक आगे बढ़ा और कुली की तरह हमारा सामान अपने हाथों और कंधों पर उठा लिया। कुछ ही पलों में सारा सामान प्लेटफ़ॉर्म पर रख दिया। जब गाड़ी आगे बढ़ने लगी, तो एक-एक युवक ने हमें सलाम किया, गले लगा, हमारे रिश्तेदारों से हाथ मिलाया। जाते हुए सबने हाथ हिलाए और इस सफर की प्यारी यादें अपने दिलों में सहेज कर हम अपनी मंज़िल की ओर रवाना हो गए।

सीख देने वाले

अमेरिकी मैगज़ीन टाइम (10 फ़रवरी 1992) की कवर स्टोरी का विषय था—अमेरिका की नज़र में जापान, और जापान की नज़र में अमेरिका:

> America in the mind of Japan,
> Japan in the mind of America.

इस रिपोर्ट का सार, पत्रिका के शब्दों में, यह है कि अमेरिका और जापान की ऊपर-ऊपर दिखने वाली न-इत्तफ़ाक़ी एक गहरी सच्चाई को छुपाती है। वह सच्चाई यह है कि दोनों देश एक-दूसरे को अपनी ज़रूरत समझते हैं:

> "Friction (घर्षण) between the U.S. and Japan masks a deeper truth: the two nations need each other." (p. 8)

पत्रिका ने लिखा है कि अमेरिका आज भी बहुत मज़बूत अर्थव्यवस्था वाला देश है, लेकिन अब उसे अपने बारे में लगता है कि वह पहले जैसा नहीं रहा। पुराना दुश्मन—सोवियत यूनियन—अब समाप्त हो चुका है।

जापान के मुकाबले अमेरिका $41 बिलियन के व्यापार घाटा में है। इसी कारण कुछ अमेरिकी जापान को अपना नया दुश्मन मानने लगे हैं:

> "America, still the most powerful economy, nonetheless feels itself to be somehow the

> diminished thing… With the U.S running a $41 billion trade deficit with Japan, the once deferential partner begins to look to some Americans like the new enemy." (p. 9)

दूसरे विश्वयुद्ध के समाप्त होने पर अमेरिका विजेता था और जापान पराजित। लेकिन आज यह स्थिति उलट गई है। इसकी वजह पूरी तरह नैतिक है। अमेरिका ने हथियारों की ताक़त से जापान पर जीत पाई थी, लेकिन अंत में चरित्र की शक्ति ने अपना प्रभाव दिखाया। बेहतर चरित्र और अनुशासन के साथ जापान आगे बढ़ा और अमेरिका से श्रेष्ठ हो गया।

पत्रिका के अनुसार, ज़्यादातर जापानी और इसी तरह बहुत-से अमेरिकी भी, अमेरिका की आर्थिक समस्याओं की ज़िम्मेदारी खुद अमेरिका पर ही डालते हैं। मसाओ कुनीहिरो (Masao Kunihiro), जो जापान के एक मानव-विज्ञानी हैं, उन्होंने पूछा कि एमर्सन के उस पुराने सिद्धांत का क्या हुआ जिसमें कहा गया था कि अगर तुम एक अच्छी चूहेदानी बनाओगे, तो दुनिया खुद चलकर तुम्हारे दरवाज़े तक आएगी।

उन्होंने कहा कि यही वह बात थी जिसने अमेरिका को आज की आर्थिक और औद्योगिक ताक़त दी।

लेकिन हममें से बहुत-से लोग, सही हों या ग़लत, यह मानते हैं कि अमेरिका अब वैसी चूहेदानी नहीं बना रहा जो जापानी चूहेदानी से अच्छी हो। दुख की बात यह है कि अब अमेरिका में काम की गुणवत्ता पहले जैसी नहीं रही:

> Whatever happened to the good old Emersonian credo that if you build a better mousetrap, the world will beat a path to your door? That is what made America what it is today, economically and industrially powerful. But many of us, rightly or wrongly, now feel that the U.S. It is no longer turning out mousetraps that are better than ours. (p. 14)

एक और जापानी विश्लेषक योशियो सकुराउची (Yoshio Sakurauchi) ने अमेरिका की कमी बताते हुए कहा कि अमेरिका की व्यापार समस्या (trade problem) की जड़ अमेरिकी मज़दूरों के काम की कमज़ोर गुणवत्ता है:

> The root of America's trade problem lies in the inferior quality of American labor. (p. 14)

दूसरे विश्वयुद्ध में अमेरिका ने जापान के साथ जो कठोर व्यवहार किया था, अगर जापान यह करता कि वह अपनी ज़ुबान और लेखनी को सिर्फ अमेरिका के अत्याचारों और उसकी साज़िशों के ख़िलाफ़ प्रचार में लगा देता,तो जापान कुछ भी हासिल नहीं कर पाता। बल्कि युद्ध के बाद जो थोड़ा-बहुत उसके पास बचा था, वह भी वह शाब्दिक विरोध अभियान में खो देता। जापान ने अमेरिका के व्यवहार पर धैर्य किया। अमेरिका के ख़िलाफ़ शोर मचाने के बजाय उसने अपने विकास और निर्माण को अपना लक्ष्य बना लिया। और परिणाम बहुत शानदार निकला—सिर्फ चालीस साल में इतिहास बदल गया। जो पीछे था वह आगे आ गया,और जो आगे बैठा था उसे पीछे की सीट पर जाना पड़ा।

सहनशीलता का मुद्दा

नई दिल्ली की दैनिक पत्रिका द पायनियर (24 जून 1992) की एक रिपोर्ट, जिसे जलदीप लाहिड़ी ने लिखा है, एक बड़ा सबक देती है। सबक़ यह कि कुछ अप्रीय बातें केवल इस योग्य होती हैं कि उन्हें सह लिया जाए। ऐसी बातों को न सहना, उन्हें और बढ़ा देने जैसा है। यह घटना 22 जून 1992 की शाम को हुई थी। राजधानी एक्सप्रेस दिल्ली से हावड़ा के लिए निकली। ट्रेन आगे बढ़ी तो उसकी एक कोच (C-4) के यात्रियों को महसूस हुआ कि ए.सी. यूनिट काम नहीं कर रहा है। कोच के 70 यात्री नाराज़ हो गए। उन्होंने नतीजों पर ध्यान नहीं दिया, बस चेन खींचकर ट्रेन रोक दी और उसे पीछे लौटने पर मजबूर कर दिया।

ट्रेन वापस तिलक ब्रिज स्टेशन पर खड़ी हो गई। यात्री प्लेटफ़ॉर्म पर उतर आए और रेलवे कर्मचारियों के साथ बहस शुरू हो गई। यात्रियों की माँग थी कि खराब कोच हटाकर उसकी जगह सही कोच लगाया जाए। रेलवे कर्मचारियों ने कहा कि इस समय यह संभव नहीं, क्योंकि पास में इसकी कोई व्यवस्था नहीं है।

बहस का कोई नतीजा नहीं निकला। आख़िरकार ट्रेन उसी खराब कोच के साथ आगे के लिए चली। लेकिन इस झगड़े के कारण राजधानी एक्सप्रेस पाँच घंटे देर से चली। तिलक ब्रिज और नई दिल्ली स्टेशन के बीच रेल जाम हो गया और पाँच अन्य ट्रेनें भी देर से चलीं। राजधानी के दो यात्री, जिन्हें समय पर कोलकाता पहुँचना था, इतने परेशान हुए कि ट्रेन छोड़कर पालम एयरपोर्ट की ओर भागे ताकि शाम की फ्लाइट पकड़ सकें।

यह पूरी समस्या समझदारी और नासमझी का परिणाम है। नासमझी ने ही इस स्थिति को जन्म दिया। यदि डिब्बे के यात्री समझदारी से काम लेते, तो न यह समस्या पैदा होती और न ही सैकड़ों लोगों को यह बेवजह की परेशानी उठानी पड़ती।

विवेकपूर्ण सोच क्या है? यह कि इंसान उस हक़ीक़त को मान ले जिसे वह बदल नहीं सकता। नासमझ लोग ऐसी स्थिति में शोर मचाते हैं, जबकि विवेकपूर्ण लोग हालात को स्वीकार करके आगे बढ़ जाते हैं, ताकि उनका जीवन सुचारु रूप से चलता रहे।

इन 70 यात्रियों के मामले में भी यही हुआ। अगर वे लोग थोड़ी देर के लिए ए.सी. की कमी को सह लेते, तो समस्या केवल थोड़ी गर्मी सहने भर की होती। लेकिन जब उन्होंने धैर्य नहीं किया, तो एक समस्या कई समस्याओं में बदल गई।

इस दुनिया में सब कुछ किसी की इच्छा के अनुसार होना संभव नहीं। यहाँ जीवन का अर्थ है—थोड़े नुकसान को स्वीकार करना। जो व्यक्ति एक छोटे नुकसान को स्वीकार नहीं करता, उसे अंत में कई बड़े नुकसान स्वीकार करने पड़ते हैं।

नुकसान के समय गुस्से और प्रतिक्रिया से बचना ही धर्म की भाषा में "धैर्य" कहलाता है।

सफल जीवन के लिए धैर्य अनिवार्य है। धैर्य के बिना सफलता का सफ़र तय नहीं किया जा सकता।—

> इच्छाओं के सामने धैर्य, लोगों की तकलीफ़ों के सामने धैर्य, जान-माल के नुकसान में धैर्य, नापसंद अनुभवों में धैर्य, महरूमी और कमी की स्थितियों में धैर्य, मुसीबतों में धैर्य, इत्यादि।

इस दुनिया में हर व्यक्ति बार-बार नकारात्मक अनुभवों से गुज़रता है। ऐसी हालत में सकारात्मक सोच के साथ जीवन वही गुज़ार सकता है जो धैर्य के साथ जीने को तैयार हो। धैर्य इंसान को यह क्षमता देता है कि वह नकारात्मक घटनाओं से प्रभावित हुए बिना जीवन जिए और सकारात्मक सोच बनाए रखे। धैर्य इंसान को साहस और मजबूती प्रदान करता है।

मौक़ों का इस्तेमाल

इस्लामी इतिहास में सुलह-हुदैबिया सामूहिक समझदारी और दूरदर्शिता की एक शानदार मिसाल है। मक्का के क़ुरैश भले ही पैग़म्बर मुहम्मद (सल्ल०) के संदेश के विरोधी थे, लेकिन उनके बीच शुरू से कुछ लोग ऐसे भी थे जो यह मानते थे कि मुहम्मद से सीधी टक्कर लेने के बजाय उनका ध्यान दूसरे अरब क़बीलों की ओर मोड़ देना ज़्यादा बेहतर होगा। पैग़म्बर (सल्ल०) ने इसी सोच को समझा और उसे अपने मिशन के हित में बुद्धिमानी के साथ इस्तेमाल किया।

मक्का के सरदारों में उत्बा बिन रबीअह एक बड़ा सरदार था। हिजरत से पहले की घटना है कि क़ुरैश ने एक बार उत्बा को अपना प्रतिनिधि बनाकर रसूल अल्लाह (सल्ल०) के पास भेजा। इस मुलाक़ात का पूरा हाल सीरत की किताबों

में मौजूद है। उत्बा जब आपसे बातचीत करके लौटा तो उसने क़ुरैश से कहा:

> "क़ुरैश के लोगो, मेरी बात मानो। इस व्यक्ति (मुहम्मद) को उसके काम में लगे रहने दो और उसके रास्ते में रुकावट न डालो। अगर अरब ख़ुद उससे निपट लें, तो तुम्हें बिना किसी मेहनत के छुटकारा मिल जाएगा। और अगर वह अरबों पर ग़ालिब हो जाए, तो उसकी बादशाही तुम्हारी बादशाही होगी और उसकी इज़्ज़त तुम्हारी इज़्ज़त बन जाएगी।" (सीरत इब्न-हिशाम, खण्ड 1, पेज 294)

हिजरत के बाद, जब क़ुरैश, अल्लाह के रसूल (सल्ल०) के खिलाफ़ बद्र की लड़ाई के लिए निकले, तो रास्ते में आपस में मशविरा करने लगे। उस समय उत्बा ने क़ुरैश के एक समूह की तरफ़ से मक्का वालों से कहा:

> "क़ुरैश के लोगो, अल्लाह की क़सम, अगर तुम मुहम्मद और उनके साथियों से टकराओगे, तो तुम कुछ भी हासिल नहीं कर पाओगे। अल्लाह की क़सम, अगर लड़ाई हुई, तो हर व्यक्ति के सामने ऐसा चेहरा होगा जिसे वह मारना पसंद नहीं करेगा— अपने चाचा का बेटा, अपने मामा का बेटा, या अपने ही क़बीले का कोई आदमी। इसलिए वापस लौट जाओ, और मुहम्मद को बाक़ी अरब क़बीलों से निपटने दो। अगर अरब क़बीले मुहम्मद पर ग़ालिब आ जाएँ तो वही होगा जो तुम चाहते हो। और अगर मुहम्मद अरबों पर ग़ालिब आ जाए, तो वे तुम्हें ऐसे हाल में पाएँगे कि तुमने उनके खिलाफ कोई कदम नहीं उठाया होगा।" (सीरत इब्न-हिशाम, खण्ड 1, पृष्ठ 623)

मौजूदा दुनिया परीक्षा और मुक़ाबले की दुनिया है। यहाँ यह संभव नहीं कि दूसरे पक्ष को ठीक वैसी ही शर्तों पर राज़ी किया जा सके जैसी आप चाहते हों। ज़्यादातर हालात में इंसान को खुद को ही दूसरे पक्ष की शर्तों पर राज़ी करना

पड़ता है। यह राज़ी होना कमज़ोरी या हार नहीं, बल्कि हिकमत (बुद्धिमानी) है—क्योंकि इसी से इंसान अपने लिए एक नया शुरुआती बिंदु (starting point) हासिल कर लेता है।

यह वही जगह है जहाँ इंसान की बुद्धिमानी और उसकी सूझ-बूझ की परीक्षा होती है। यहाँ यह देखना पड़ता है कि दूसरे पक्ष की शर्तों में कहाँ वह गुंजाइश है जिसे स्वीकार करके हम अपने लिए भविष्य की सफलता का रास्ता निकाल सकते हैं। इसी तरह अल्लाह के रसूल (सल्ल०) ने सुलह-हुदैबिया के अवसर पर किया। आपने पूरी समझदारी के साथ क़ुरैश की मानसिकता को जाना और उसे अत्यंत हिकमत से अपने पक्ष में इस्तेमाल किया। जब हुदैबिया के स्थान पर क़ुरैश ने आपको आगे बढ़ने से रोक दिया, तब आपने क़ुरैश के नाम जो संदेश भेजा, उसमें यह बात शामिल थी:

> "हम लड़ने के लिए नहीं आए हैं, बल्कि उमरा करने के लिए आए हैं। लड़ाइयों ने क़ुरैश को थका दिया है और उन्हें बहुत नुकसान पहुँचाया है। अगर वे चाहें, तो मैं उनके साथ एक निश्चित अवधि के लिए सुलह कर सकता हूँ। और वे मेरे और दूसरे अरब क़बीलों के बीच से हट जाएँ। अगर मैं ग़ालिब रहा, तो वे चाहें तो उसी धर्म में दाख़िल हो सकते हैं जिसमें दूसरे लोग दाख़िल हो रहे हैं। और अगर मैं ग़ालिब न हुआ, तो उनका उद्देश्य पूरा हो जाएगा।" (*सीरत इब्न कसीर*, खण्ड 3, पृष्ठ 330)

ज़िंदगी का उसूल

एक व्यक्ति मोटर कार क्यों खरीदता है? तेज़ रफ़्तार से यात्रा करने के लिए। कार का उद्देश्य चलने की गति को दौड़ने की गति में बदलना है। लेकिन वही कार कार कहलाती है जो दौड़ना भी जानती हो और रुकना भी। कोई कार देखने में

बहुत अच्छी हो, लेकिन उसके अंदर रोकने की व्यवस्था (ब्रेक) न हो, तो कोई भी व्यक्ति ऐसी कार कभी खरीदना स्वीकार नहीं करेगा। सड़क के सफ़र का जो नियम है, वही ज़िंदगी के सफ़र का नियम भी है। ज़िंदगी का लंबा सफ़र वही लोग सफलतापूर्वक तय कर सकते हैं जो चलने के साथ रुकना भी जानते हों। जो लोग सिर्फ़ चलने और क़दम बढ़ाने की भाषा में सोचते हों, जिनकी शब्दावली में ठहरने और रुकने का शब्द न हो, वे उन कारों की तरह हैं जिनके भीतर ब्रेक नहीं होता। और जिस कार में ब्रेक न हो, वह हमेशा गड्ढे में ही गिरती है—ऐसी कार की तक़दीर में मंज़िल तक पहुँचना नहीं होता।

अगर आपका स्वभाव यह हो कि कोई व्यक्ति आपके ख़िलाफ़ कुछ कह दे तो आप तुरंत लड़ने को तैयार हो जाएँ; कोई आपकी उम्मीदें पूरी न करे तो आप उसे अपना विरोधी समझकर उससे टकराने लगें—तो समझ लीजिए कि आप भी बिना ब्रेक की कार हैं। आपका हाल यह है कि जहाँ चुप रहना चाहिए वहाँ बोलते हैं, और जहाँ क़दम रोक लेना चाहिए वहाँ तेज़ी से आगे बढ़ने लगते हैं। ऐसे व्यक्ति का अंत इस दुनिया में सिर्फ़ बर्बादी है—इसके सिवा कुछ नहीं।

अक़्लमंद इंसान वह है जो अपनी ताक़त को नकारात्मक कामों में बर्बाद होने से बचाए। जो रास्ते के काँटों में उलझे बिना अपना सफ़र जारी रखे। दीन की ज़ुबान में इसे ही "एराज़" (अनदेखा करना) कहा गया है—और एराज़ निस्संदेह ज़िंदगी का एक अनिवार्य उसूल है। जिस व्यक्ति के सामने एक सोचा-समझा उद्देश्य हो, जो अपनी बनाई हुई योजना की पूर्ति में लगा हुआ हो, वह ज़रूर एराज़ का तरीक़ा अपनाएगा। वह हमेशा अपने उद्देश्य को अपनी नज़र के सामने रखेगा। लेकिन जिन लोगों के सामने कोई निश्चित लक्ष्य नहीं होता, वे एराज़ की अहमियत को नहीं समझते। वे छोटी-छोटी बातों पर दूसरों से लड़ पड़ते हैं। उन्हें लगता है कि वे बहुत अच्छा काम कर रहे हैं, जबकि वास्तव में वे केवल अपनी ऊर्जा और अपनी क्षमता को बरबाद कर रहे होते हैं।

अध्याय 3

बुद्धिमत्ता के विचार

शक्ति का खज़ाना

मानव दिमाग़ (mind) एक हैरान करने वाली चीज़ है। इसका आकार संतरे से भी छोटा होता है, लेकिन यह एक सेकंड में 800 बातें याद कर सकता है। यह लगभग 75 साल तक यही काम करता रहता है।

नई वैज्ञानिक शोध से पता चला है कि कोई भी विचार जब एक बार दिमाग में आ जाता है, तो वह हमेशा के लिए दिमाग का हिस्सा बन जाता है। यानी दिमाग में जो भी बात पहुँचती है, दिमाग उसे पूरी तरह संभाल कर रख लेता है और कभी नहीं भूलता। चाहे हम उन बातों को याद न कर पाएं, लेकिन दिमाग की अंदरूनी फाइल में सब कुछ हमेशा मौजूद रहता है।

अगर ऐसा कंप्यूटर बनाया जाए जिसकी क्षमता मानव दिमाग के बराबर हो, तो वह इतना बड़ा होगा कि वह एम्पायर स्टेट बिल्डिंग जैसी इमारत को भी घेर लेगा। एम्पायर स्टेट बिल्डिंग न्यूयॉर्क में है, इसमें 102 मंज़िलें हैं और इसकी ऊँचाई 1250 फुट है। ऐसा सुपर कंप्यूटर अगर बनाया जाए, तो उसे चलाने के लिए 1 अरब वॉट बिजली चाहिए होगी। इसकी कीमत इतनी ज़्यादा होगी कि उसका अंदाज़ा लगाना भी मुश्किल होगा।

> The brain is a fabulous mechanism. About the size of half a grapefruit, it can record 800 memories a second for the average 75 years many of us live, without exhausting itself. The human brain retains everything it takes in and never forgets anything. Even though we don’t recall all the information we receive, everything is stored in a permanent file in our brains. If a computer capable of matching the brain’s potential were built, it would occupy space comparable to that of the Empire State Building

> (1,250 feet tall) and require 1,000,000,000 watts of electrical power to run. The cost would be equally immense. The mind is one of God`s most amazing gifts to man. Yet most people use only a small fraction of their mental ability. For many, the power remains largely untapped. (*The Plain Truth*, October 1988, p. 29)

यह दिमाग़ मनुष्य के लिए अल्लाह का बहुत ही आश्चर्यजनक तोहफ़ा है। लेकिन सबसे बड़ा वैज्ञानिक भी इसे केवल थोड़े हिस्से तक ही इस्तेमाल कर पाता है। दिमाग़ की ज़्यादातर बड़ी क्षमताएँ अब तक बेकाम पड़ी हैं।

अमेरिकी पत्रिका स्पैन (Span) के सितंबर 1989 के अंक में एक शोध लेख छपा था जिसका शीर्षक था—हमारा आश्चर्यजनक दिमाग:

Our Amazing Mind

इस लेख के लेखक यू. एस. न्यूज़ ऐंड वर्ल्ड रिपोर्ट के सीनियर एडिटर मिस्टर विलियम एफ. ऑलमैन (William F. Allman) हैं। इसमें बताया गया है कि दिमाग़ पर शोध का काम आज के समय में इतना बढ़ गया है कि अब इसकी एक अलग वैज्ञानिक शाखा बन चुकी है जिसे दिमाग की साइंस (Brain science) कहा जाता है। इस साइंस के तहत जो ढेर सारी नई जानकारियाँ मिली हैं, वे एक तरह के धमाके की हैसियत रखती हैं।

एक वैज्ञानिक ने दिमाग को सोचने वाला इंजन (thinking engine) कहा है। जबकि यह ताबीर (उपमा) बहुत अधूरी है। क्योंकि दिमाग़ के एक लाख मिलियन न्यूरॉन (100,000 million neurons) जिस तरह मिलकर काम करते हैं और एक पल में चीज़ों में फर्क कर लेते हैं, वह कोई भी बड़ी से बड़ी मशीन नहीं कर सकती। अपनी आश्चर्यजनक क्षमता के हिसाब से एक अकेले व्यक्ति का दिमाग दुनिया की सभी मशीनों और सभी कंप्यूटरों से ज़्यादा शक्तिशाली है।

An explosion of recent findings in brain science—aided by new computer programs that can simulate brain cells in action—is now revealing that the brain is more intricate than any imaginable mechanical device. (p.24)

इस विषय में नई खोजों का सार बताते हुए अंत में लेख लिखने वाले ने लिखा है कि हालांकि बीसवीं सदी के वैज्ञानिकों ने काफी कोशिश की कि वे ऐसी मशीनें बना सकें जो मानव दिमाग़ जैसा काम करें, लेकिन सबसे ताक़तवर सुपर कंप्यूटर भी अभी तक मानव दिमाग से बहुत पीछे है:

> Though 20th-century scientists have tried to make machines that mimic the brain`s functioning, even the most powerful supercomputer falls far short of the real thing. (p.28)

मानव दिमाग़ ताक़त का एक गहरा ख़ज़ाना है। यह ख़ज़ाना हर आदमी को जन्म के साथ मिल जाता है। यह बिना मेहनत और बिना किसी कमाई के हर इंसान के पास होता है। दिमाग़ के रहते कोई भी व्यक्ति गरीब नहीं होता, कोई भी व्यक्ति किसी से कमज़ोर नहीं होता, चाहे बाहरी साधनों के हिसाब से वह कितना ही ग़रीब या कमज़ोर क्यों न दिखाई दे।

दिमाग़ के रूप में सबसे ताक़तवर मशीन आपके पास है, ऐसी मशीन जैसी कोई दूसरी चीज़ पूरी ज्ञात दुनिया में कहीं नहीं मिलती। इस ताक़तवर मशीन जैसे ख़ज़ाने को इस्तेमाल कीजिए, इसके अंदर छिपी शक्तियों को सामने लाने की कोशिश कीजिए। फिर कभी आपको नाकामी की शिकायत नहीं होगी।

दुनिया में जिस व्यक्ति ने भी कोई तरक़्क़ी या सफलता हासिल की है, वह इसी दिमाग़ की ताक़त का इस्तेमाल करके हासिल की है। प्रकृति की दी हुई यही बड़ी ताक़त आपके पास भी है। संभावना के हिसाब से आप भी उसी तरक़्क़ी के किनारे खड़े हैं जहाँ कोई भी व्यक्ति कभी पहुँचा है। फिर निराशा क्यों, और

शिकायत किस लिए? अपनी संभावना को सच बनाइए। सफलता की हर ऊँचाई आपके इंतज़ार में है कि आप वहाँ पहुँचें और खुद को उसके ऊपर खड़ा कर दें।

संभावना खत्म नहीं होती

एक अमेरिकी युवक डिविट वॉलस (Dewitt Wallace, 1889-1981) ने यह तय किया कि वह एक मासिक डाइजेस्ट निकालेगा। उसने अपने पिता से शुरुआत के लिए 300 डॉलर माँगे, लेकिन पिता ने यह कहकर मना कर दिया कि डिविट पैसे का सही इस्तेमाल नहीं करता और उन्हें बर्बाद कर देगा। बड़ी मुश्किल से उसने अपने भाई से कुछ पैसे लिए और जनवरी 1920 में नमूने का अंक छापा, जो कुछ सौ प्रतियों से ज़्यादा नहीं था।

अब डिविट के सामने दूसरी परेशानी थी। उसने अपना मैगज़ीन न्यूयॉर्क के प्रकाशन घरों को दिखाया और उनसे कहा कि वे इसे बेचने में उसकी मदद करें। लेकिन सभी ने यह कहकर मना कर दिया कि यह मैगज़ीन बहुत ज़्यादा गंभीर (too serious) है और इतनी गंभीर पत्रिका के लिए बाज़ार नहीं है।

यह बहुत कठिन स्थिति थी, क्योंकि अख़बार और पत्रिकाएँ आम तौर पर इन्हीं प्रकाशन घरों के माध्यम से लोगों तक पहुँचती हैं, और उन्होंने उसकी मदद करने से मना कर दिया था। लेकिन एक संभावना फिर भी बची थी—सीधे ग्राहकों तक पहुँचना। उसने कई पते जुटाए और लोगों को सीधे पत्र लिखे। इसके साथ उसने अख़बारों में विज्ञापन भी दिया। एक नए और अनजाने मैगज़ीन के लिए इस तरह ग्राहक मिलना सामान्य तौर पर नामुमकिन लगता है। लेकिन डिविट की एक योजना ने यह नामुमकिन मुमकिन बना दिया। उसने अपने पत्रों और विज्ञापनों में लिखा:

> The subscription could be cancelled and all money refunded if the reader wasn`t satisfied. (p.163)

अगर पाठक मैगज़ीन पढ़कर संतुष्ट न हुए तो खरीदारी खत्म कर दी जाएगी और पूरी राशि वापस कर दी जाएगी।

इस पेशकश का असर यह हुआ कि डिविट के पास खरीदारी की माँग और मनी ऑर्डर आने लगे। पहले ही चरण में उसे इतनी राशि मिल गई कि वह 2 महीने का अंक आसानी से छाप सके।

डिविट की योजना सफल रही। किसी एक व्यक्ति ने भी अपनी खरीदारी बंद नहीं की और किसी ने भी पैसे वापस माँगने की बात नहीं की। उसने सीधे आम लोगों तक पहुँचने की कोशिश और भी बढ़ा दी। फरवरी 1922 में उसका मैगज़ीन एक हज़ार प्रतियों में छपा। इसके बाद वह लगातार बढ़ता रहा, यहाँ तक कि 1987 में वह दुनिया की पंद्रह भाषाओं में 139 संस्करणों के साथ 28 मिलियन से ज़्यादा प्रतियों में छप रहा था। यह वही मासिक मैगज़ीन है जिसे आज पूरी दुनिया में रीडर्स डाइजेस्ट (Reader`s Digest) के नाम से जाना जाता है। अब यह दुनिया की सबसे ज़्यादा पढ़ी जाने वाली मैगज़ीन बन चुका है। 1980 में डिविट और उसकी पत्नी 50,000 मिलियन डॉलर के मालिक थे।

डिविट ने अपने मैगज़ीन के लिए इस तरह ग्राहक बनाए कि उसने अपने मैगज़ीन को खरीदारों के लिए "मुफ़्त" जैसा बना दिया। हर व्यक्ति बिना पैसे डूबने के डर के उसका ग्राहक बन सकता था। लेकिन इस तरीक़े को अपने फायदे में बदलने के लिए एक और तरीक़ा ज़रूरी था। अगर यह दूसरी योजना न होती तो सिर्फ पहली योजना उसकी नाकामी को और बढ़ा देती।

यह दूसरी योजना वही थी जिसे उच्च गुणवत्ता कहा जाता है। यानी मैगज़ीन को ऐसा बनाना कि पढ़ने के बाद पाठक को सचमुच महसूस हो कि यह पढ़ने लायक चीज़ है। उसे यह लगे कि खरीदारी के लिए जो पैसा उसने भेजा है, वह बिल्कुल सही भेजा है और उसे अपनी खरीदारी जारी रखनी चाहिए।

अपने मैगज़ीन में यह दूसरी विशेषता पैदा करने के लिए डिविट को असाधारण मेहनत करनी पड़ी। उसका मासिक पत्र एक डाइजेस्ट था—यानी अलग-अलग

छपे हुए लेखों का चयन। इन चुने हुए लेखों को इकट्ठा करने के लिए डिविट रोज़ 40 से ज़्यादा मैगज़ीनें पढ़ता था। कुछ वह खरीदता था और कुछ पढ़ने के लिए अलग-अलग पुस्तकालयों में जाता था। इस मेहनत-भरे काम की वजह से उसे ताने भी सुनने पड़ते थे। उदाहरण के लिए, बहुत से लोग उसे केवल कैंची संपादक (Scissors-and-paste editor) कहने लगे। लेकिन उसने हर विरोध को नज़रअंदाज़ करते हुए अपना काम जारी रखा।

डिविट वॉलस के जीवनीकार ने उसकी सफलता का राज़ इन शब्दों में बताया है:

> What made him supernormal was his intense, sustained curiosity, plus an unequalled capacity for work. (p.182)

जिस चीज़ ने उसे असाधारण बनाया, वह उसका गहरा और लगातार रहने वाला जिज्ञासु स्वभाव था, और इसके साथ यह कि उसमें काम करने की अद्भुत क्षमता थी।

डिविट वॉलस के एक दोस्त ने उसके बारे में कहा कि वह जितना बोलता है, उससे बहुत ज़्यादा सुनता है:

He listens far more than he talks.

यह घटना बताती है कि इस दुनिया में मौक़े और संभावनाएँ इतनी ज़्यादा हैं कि उनकी सूची कभी खत्म नहीं होती। जब भी एक संभावना खत्म हो, आदमी को तुरंत दूसरी संभावना की खोज में लग जाना चाहिए। अगर वह ऐसा करे तो उसे पता चलेगा कि जहाँ हालात ने उसके लिए नाकामी का फ़ैसला सुनाया था, वहीं उसके लिए एक नई और बेहतरीन संभावना मौजूद थी, जिसे अपनाकर वह फिर से सफलता तक पहुँच सकता है।

सेवा का करिश्मा

रीडर्स डाइजेस्ट (जून 1989) में एक चौंका देने वाली रिपोर्ट छपी। इस रिपोर्ट को तैयार करने वाले एक भारतीय पत्रकार मिस्टर अशोक महादेवन हैं। वह भारत से कराची गए और वहाँ की स्थिति को करीब से देखने के बाद अपनी विस्तृत रिपोर्ट लिखी, जो इस रीडर्स डाइजेस्ट में प्रकाशित हुई।

यह कराची के एक व्यक्ति की कहानी है। उसका नाम अब्दुल सत्तार ईधी है। अपनी 40 साल की सेवाओं के परिणाम में उसने अपने आसपास असाधारण सम्मान और पसंदिंदी हासिल की है। मिस्टर महादेवन के शब्दों में, कराची के अपराधी भी उनका सम्मान करते हैं। एक बार उन्हें पता चला कि कराची के एक बाहरी इलाके में पुलिस और डाकुओं के एक गिरोह के बीच गोलियाँ चल रही हैं। वे तुरंत एक एंबुलेंस लेकर वहाँ पहुँच गए। जैसे ही वे पहुँचे, डाकुओं ने उन्हें देखते ही फायरिंग रोक दी। ईधी इतने में यह कर सके कि एक सब-इंस्पेक्टर की लाश को उठाकर अपनी गाड़ी में रख लें। डाकू इस दौरान बेसब्री से इंतज़ार करते रहे और हाथ के इशारे से उन्हें वापस जाने को कहते रहे। जैसे ही वे वहाँ से रवाना हुए, डाकुओं ने फिर पुलिस पर गोली चलाना शुरू कर दी:

> Such feelings are shared even by Karachi`s criminals. Once, hearing that the police and a gang of dacoits were engaged in a shoot-out in a city suburb, Edhi drove to the scene in an ambulance. As soon as he arrived, the dacoits stopped firing, and Edhi was able to carry the body of a dead inspector into his vehicle. The dacoits then impatiently waved Edhi away, and as he left, began shooting at the police again. (pp. 116-17)

एक व्यक्ति यह दर्जा कैसे पा सकता है कि उसे देखकर डाकू भी अपनी बंदूकें

नीचे कर दें? इसका कारण यह नहीं था कि उसका नाम अब्दुल सत्तार था। और न ही इसका कारण कोई विरोध, माँग, जुलूस या भाषणों का शोर था। इसका कारण सिर्फ एक था—मानव सेवा। अब्दुल सत्तार ने अपनी 40 साल की निःस्वार्थ सेवा से यह स्थान बनाया कि डाकू भी उसके आगे झुकने पर मजबूर हो जाएँ।

अब्दुल सत्तार ईधी (उम्र 55 वर्ष) एक पाकिस्तानी प्रवासी हैं। 1947 में वे गुजरात छोड़कर कराची चले गए। शुरुआत में उन्होंने कपड़ों और दवा की दुकान पर नौकरी की। कई बार उनके सामने ऐसे अनुभव आए जब किसी मरीज़ या दुर्घटना के शिकार व्यक्ति को अस्पताल पहुँचाने के लिए तुरंत एंबुलेंस की ज़रूरत थी, लेकिन समय पर एंबुलेंस न पहुँचने की वजह से वह व्यक्ति तड़प-तड़प कर मर गया। उनके मन में यह विचार आया कि वे एंबुलेंस सेवा का एक सामाजिक संस्थान स्थापित करेंगे।

1950 में उन्होंने दान में मिली राशि से एक सेकंड-हैंड ट्रक खरीदा और उसे एक साधारण एंबुलेंस में बदलकर मरीजों और घायलों की सेवा शुरू की। यह काम बढ़ता गया। यहाँ तक कि अब उनके पास 245 एंबुलेंस है। वे कराची के भीतर और बाहर गरीबों और अपंग लोगों की मुफ्त सेवा कर रहे हैं। उनका सामाजिक सेवा संस्थान हर दिन हज़ारों पाकिस्तानियों की मदद करता है। एंबुलेंस दल के अलावा उनके अधीन प्रसूति केंद्र (ज़च्चा-ख़ाने), रक्त बैंक, एक्स-रे क्लिनिक, प्रयोगशाला, नर्सिंग स्कूल, अनाथालय, अपंग-गृह आदि चल रहे हैं। उन्होंने इथियोपिया (53 हज़ार डॉलर), फ़िलिस्तीन (66 हज़ार डॉलर), बांग्लादेश (10 हज़ार डॉलर) और इसी तरह दूसरे देशों के संकट-पीड़ित लोगों की भी मदद की है। अब वे एयर एंबुलेंस सेवा और दूसरे बड़े संस्थान बनाना चाहते हैं, जैसे आधुनिक अस्पताल, पशुओं का अस्पताल आदि।

उनका सालाना बजट लगभग 10 करोड़ रुपये है, और यह सब जनता के चंदों से मिलता है। पूर्व राष्ट्रपति ज़िया-उल-हक़ ने एक बार उन्हें पाँच लाख रुपये का चेक भेजा, लेकिन अब्दुल सत्तार ईधी ने उसे वापस कर दिया। उन्होंने कहा कि यह काम जनता के लिए है और इसकी कीमत भी जनता ही देगी। वे बहुत

साधारण ढंग से 2 कमरों के एक फ़्लैट में रहते हैं। लोगों का उन पर इतना भरोसा है कि बिना माँगे ही उन्हें बड़ी-बड़ी रकम देते रहते हैं। लोग कहते हैं कि हमें विश्वास है कि उन्हें दी गई राशि ज़रूर सही तरीके से इस्तेमाल होगी।

1986 में उन्हें जन-सेवा (Public Service) के लिए Ramon Magsaysay Award दिया गया। अब्दुल सत्तार ईधी इससे पहले एक स्थानीय पहचान रखते थे। इस पुरस्कार ने उन्हें अंतरराष्ट्रीय पहचान दे दी। इस तरह वे मानव-सेवा की उस विशेष सूची में आ गए जिसमें अब तक केवल मदर टेरेसा को प्रसिद्धि मिली थी। हालाँकि मदर टेरेसा का काम बहुत बड़ा है और उन्हें नोबेल पुरस्कार भी मिल चुका है, लेकिन अब्दुल सत्तार ईधी शायद मुसलमानों में पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने इस क्षेत्र में इतनी महत्वपूर्ण सेवा का प्रमाण दिया कि वैश्विक स्तर पर उनका सम्मान किया गया।

ऐसा काम पेशे के तौर पर नहीं किया जा सकता। इसके लिए अल्लाह की बनाई मानव-जाति से गहरे प्रेम का संबंध होना ज़रूरी है। और यह गुण मदर टेरेसा और अब्दुल सत्तार ईधी दोनों में समान है। मदर टेरेसा कहती थीं कि मैं हर इंसान में ख़ुदा को देखती हूँ:

I see God in every human being.

अब्दुल सत्तार ईधी का भी यही हाल है। मिस्टर अशोक महादेवन के एक प्रश्न के उत्तर में अब्दुल सत्तार ईधी ने कहा कि मैं उनके अंदर ख़ुदा को देखता हूँ:

I see God in them. (p.119)

सेवा की बरकत

इंसान की सेवा का बदला इंसान का प्यार है। यह नियम किसी एक देश के लिए नहीं, बल्कि पूरी दुनिया के लिए है। जो लोग इंसानों की सेवा करते हैं, उन्हें एक तरफ़ गहरा दिली सुकून मिलता है। साथ ही, दूसरे लोगों के बीच उन्हें ऐसी

इज़्ज़त और अपनापन मिलता है कि उनके दुश्मन भी उनके दोस्त बन जाएँ। ख़तरनाक डाकू भी उन्हें देखकर अपने हथियारों का इस्तेमाल छोड़ दें।

सहनशीलता: प्रकृति का सिद्धांत

टॉलरन्स (सहनशीलता) प्रकृति का एक सार्वभौमिक सिद्धांत है। शेर और हाथी दोनों बहुत बड़े जानवर हैं। दोनों एक-दूसरे के प्रतिद्वंद्वी माने जाते हैं। फिर भी दोनों जंगल में साथ रहते हैं। यह सिर्फ टॉलरन्स की वजह से संभव होता है। जंगलों में देखा गया है कि अगर एक तरफ़ से हाथी आ रहा हो और दूसरी तरफ़ से शेर चला आ रहा हो, तो दोनों बिना उलझे चुपचाप अपने-अपने रास्ते से गुज़र जाते हैं। अगर दोनों ऐसा न करें तो वे आपस में लड़ पड़ेंगे और लड़ते-लड़ते दोनों नष्ट हो जाएँगे।

शेर और हाथी को यह तरीक़ा प्रकृति ने सिखाया है। इसी तरह इंसान के शरीर में भी प्रकृति ने टॉलरेंस की व्यवस्था बनाई है। मेडिकल साइंस में इसे जैविक टॉलरन्स (biological tolerance) कहा जाता है। इसका अर्थ है कि कोई जीव किसी चीज़ का बुरा असर लिए बिना सह ले, चाहे वह चीज़ शरीर से संपर्क में आई हो या उसे शरीर में डाला गया हो:

> In biology, the ability of an organism to endure contact with a substance, or its introduction into the body, without ill effects. (*Encyclopaedia Britannica*, Vol. 10, p. 31)

शरीर की इसी क्षमता पर रोगों के उपचार का पूरा तरीक़ा आधारित है। बीमारी के समय शरीर में ऐसी दवाएँ डाली जाती हैं जो सामान्य रूप से शरीर के लिए हानिकारक होती हैं। लेकिन बाहरी चीज़ों के प्रति संवेदनशील होने के बावजूद शरीर ऐसी दवाओं को सह लेता है। वह उनके साथ टॉलरन्स का व्यवहार करता

है। इसी “जैविक टॉलरन्स” की वजह से संभव होता है कि ये दवाएँ शरीर में जाकर प्रभाव दिखाएँ। वे शरीर के दूसरे हिस्सों पर बुरा असर डाले बिना बीमार हिस्से पर काम करके उसे ठीक कर सकें।

टॉलरन्स का यही तरीक़ा मानव समाज में भी ज़रूरी है। जंगल के जानवर जो कुछ अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति (instinct) से करते हैं और मानव शरीर जो कुछ अपनी प्रकृति से करता है, वही काम इंसान को अपनी समझ से करना है। उसे अपने निर्णय से टॉलरन्स (सहनशीलता) का तरीक़ा अपनाकर दूसरों के साथ जीवन बिताना है।

जब भी अधिक लोग एक साथ रहेंगे, शिकायतें और मतभेद होंगे। यह घर के भीतर भी होगा, समाज में भी, पूरे देश में भी और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भी। इंसान किसी भी स्तर पर मिले, उनके बीच अप्रिय घटनाएँ होना ज़रूरी है।

ऐसी स्थिति में क्या किया जाए? इसका उत्तर टॉलरन्स है। ऐसी स्थिति में एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के साथ और एक समूह दूसरे समूह के साथ रवादारी (सहनशीलता) और बरदाश्त का व्यवहार करे। साथ मिलकर जीने और साथ मिलकर आगे बढ़ने का यही एकमात्र व्यावहारिक तरीक़ा है। इस भावना के बिना मानव सभ्यता का निर्माण और उसकी उन्नति असंभव है।

टॉलरन्स कोई कमज़ोरी नहीं है; यह पूरी तरह वास्तविकता को स्वीकार करना है। इसका अर्थ यह नहीं कि व्यक्ति के पास कोई बेहतर विकल्प था और उसने डर या पस्त-हिम्मती के कारण कमतर विकल्प चुन लिया। सच्चाई यह है कि इस दुनिया में अक्सर हमारे पास कोई और विकल्प ही नहीं होता। टॉलरन्स हमारी व्यावहारिक ज़रूरत है, न कि कोई नैतिक कमी।

अक्सर ऐसा होता है कि इंसान किसी अप्रिय स्थिति को अपने लिए हानिकारक समझकर उससे लड़ने लगता है और अंत में तबाह हो जाता है। ऐसा क्यों होता है? इसलिए कि उसने अपनी कम-दृष्टि के कारण यह समझा कि उसके पास विकल्प सुखद और असुखद के बीच है। वह असुखद से लड़ पड़ा ताकि सुखद को हासिल कर सके।

लेकिन नतीजे से पता चलता है कि उसके पास विकल्प सुखद और असुखद के बीच नहीं था, बल्कि असुखद और तबाही के बीच था। असल में इस दुनिया में बहुत कम होता है कि विकल्प सुखद और असुखद के बीच हो। अधिकतर मामलों में विकल्प कम-असुखद और अधिक-असुखद के बीच होता है। ऐसी स्थिति में समझदारी यही है कि इंसान अधिक-असुखद से बचने के लिए कम-असुखद को स्वीकार कर ले।

ज़्यादातर लोग इसी भ्रम में पड़कर खुद को बर्बाद करते रहते हैं। वे एक क़दम उठाते हैं और सोचते हैं कि यह क़दम अप्रिय स्थिति को हटाकर प्रिय स्थिति लाएगा। लेकिन जब वर्तमान स्थिति खत्म होती है तो उन्हें पता चलता है कि नई स्थिति में वही अप्रियता अधिक मात्रा में मौजूद है जिसे कम मात्रा में सहने से उन्होंने इंकार किया कर दिया था।

टॉलरन्स इसी बुद्धिमानी का नाम है। इस दुनिया में बरदाश्त करना इंसान को जीवन की ओर ले जाता है और बरदाश्त खो देना सिर्फ मौत की ओर।

टॉलरन्स हमें काम करने का अवसर देता है। इसकी वजह से यह संभव होता है कि हम प्रतिकूल परिस्थितियों से तालमेल बिठाकर वह मौक़ा पा लें जब हम अपनी ज़िंदगी का सफ़र संतुलन के साथ जारी रख सकें। इसके विपरीत अगर हम टॉलरन्स छोड़ दें और हर उस चीज़ से लड़ने लगें जो हमें प्रतिकूल लगे, तो इसका नतीजा सिर्फ यह होगा कि हम एक "बुराई" को खत्म करेंगे, सिर्फ इसलिए कि उसके बाद एक और बड़ी बुराई में खुद को डाल दें।

अगर शेर और हाथी एक-दूसरे को स्वीकार न करें तो दोनों अपनी मौत को बुलाएँगे। लेकिन जब वे एक-दूसरे को स्वीकार करते हैं तो दोनों अपने लिए जीवन का अवसर पा लेते हैं। यही टॉलरन्स का सबसे बड़ा लाभ है। टॉलरन्स आपको काम करने का अवसर देता है। वह आपको आगे बढ़ने का मौक़ा देता है। और इस दुनिया में निस्संदेह सबसे बड़ी चीज़ काम करने का अवसर ही है। इस अवसर से वंचित होना बर्बादी है, और इस अवसर को पाकर उसका उपयोग करना ही सफलता है।

एक ग़लतफ़हमी

एक बार मैं एक गाँव में गया था। वहाँ मैंने देखा कि एक आदमी ने नीम का पेड़ काटा और उसके बाद उसके तने का छिलका उतारना शुरू कर दिया। मैंने गाँव के उस आदमी से पूछा, ''आप इसका छिलका क्यों उतार रहे हैं?'' उसने मुस्कराकर जवाब दिया, ''अगर छिलका न उतारा जाए तो इसके अंदर कीड़े लग जाएंगे और लकड़ी को खराब कर देंगे।

यह 1965 की बात है। अगस्त 1975 में मुझे फिर एक दूसरे गाँव में जाने का मौका मिला। वहाँ मैंने देखा कि नीम का एक कटा हुआ तना पड़ा हुआ है। एक व्यक्ति ने अपने घर के पास एक नीम का पेड़ काट दिया था, लेकिन उसका छिलका नहीं उतारा था। यह देखकर मुझे दस साल पहले की बात याद आ गई । मैंने सोचा कि अनुभव करके देखूँ कि उसकी बात सही थी या नहीं। मैंने उसके घर के एक आदमी से कहा कि कोई औज़ार लाओ और इसका छिलका उतारो। जब उसने छिलका उतारा तो मैंने देखा कि छिलके के नीचे एक इंच के मोटे-मोटे कीड़े हैं। ये कीड़े बहुत नरम थे, लेकिन उन्होंने तने की सतह को जगह-जगह इस तरह काट दिया था जैसे उस पर नालियाँ बनी हुई हों।

यह प्रकृति का तरीक़ा है। प्रकृति इसी तरह यह सीख देती है कि इस दुनिया में तुम्हें बहुत सावधानी से जीवन बिताना है। क्योंकि दुनिया की व्यवस्था ऐसी बनाई गई है कि यहाँ एक गलती तुम्हारी सारी अच्छाइयों को मिटा सकती है। एक लापरवाही तुम्हारी सारी संभावनाओं को खत्म करने के लिए काफ़ी है। प्रकृति यह कर सकती थी कि छिलका उतारे बिना नीम के तने को सुरक्षित रखे, लेकिन उसने यह नियम बना दिया कि उसका मालिक उसका छिलका उतारे। उसके बाद ही उसका तना इस दुनिया में सुरक्षित रह सकता है।

अब इस प्रकृति के नियम का असर मनुष्य के जीवन में देखिए। क्योंकि मनुष्य की दुनिया में भी वही नियम चलता है जो प्रकृति की दुनिया में होता है।

1944 में जौनपुर (यू.पी.) के दो आदमियों ने मिलकर कारोबार शुरू किया। शुरू में उनके पास कुछ सौ रुपयों से ज़्यादा पूँजी नहीं थी। लेकिन उनके साझे के कारोबार में अल्लाह ने बरकत दी और छह साल में उनके कारोबार की कीमत 30 हज़ार तक पहुँच गई। अब दोनों में मतभेद शुरू हो गए और बात अलग होने तक पहुँच गई। एक मध्यस्थ के सुझाव से यह तय हुआ कि कारोबार को बाँटा न जाए, बल्कि उसकी कीमत का अंदाज़ा करके ऐसा बँटवारा हो कि एक व्यक्ति आधी रक़म ले ले और दूसरे को सारा सामान और व्यापार दे दिया जाए। ऐसा ही हुआ और एक आदमी को माल-सामान मिला, और दूसरे को नक़द पंद्रह हज़ार रुपये दे दिए गए।

1949 में पंद्रह हज़ार रुपये आज की कीमत से कई लाख रुपये के बराबर थे। जिस आदमी ने नक़द रक़म ली थी, उसने जौनपुर के एक बाज़ार में कपड़ों की दुकान खोल ली। उसे शुरू से ही बहुत अच्छा मौक़ा मिला और एक साल में उसकी पूँजी दोगुनी हो गई। अपने कारोबार के दूसरे साल में वह ऐसे मुक़ाम पर पहुँच गया कि उसके सामने तरक्की और कामयाबी का बहुत बड़ा दरवाज़ा खुला हुआ था।

लेकिन अब एक कमज़ोरी धीरे-धीरे उनके अंदर आ गई। वे खर्च के बारे में लापरवाह हो गए। अपनी ज़िंदगी पर, बीवी बच्चों और दोस्तों पर उनका खर्च बेहिसाब बढ़ गया। वे यह भूल गए कि दिन भर की बिक्री से उनके पास जो एक हज़ार रुपये आते हैं, उनमें से सिर्फ 10 फ़ीसदी उनके हैं। बाकी 90 फ़ीसदी महाजन के हैं। वे अपने गल्ले की रक़म ऐसे खर्च करने लगे जैसे यह सारा पैसा उनकी अपनी आमदनी हो, बिल्कुल वैसे ही जैसे वकील की जेब में फीस की जो रकम आती है, वह पूरी उसकी आमदनी होती है

दुकानदारी के साथ इस तरह की फिजूलखर्ची नहीं चल सकती। नतीजा यह हुआ कि कुछ ही सालों में वे दिवालिया हो गए। उनके पास पंद्रह हज़ार में से एक रुपये भी नहीं बचा।

इस घटना के बाद वे लगभग पंद्रह साल तक ज़िंदा रहे, लेकिन दोबारा कोई काम नहीं कर पाए। किसी ने सलाह दी कि तुम "चिल्ला" कर दो, तो तुम्हारा काम बन जाएगा। उन्होंने यह भी किया, लेकिन प्रकृति के नियमों के उल्लंघन की भरपाई चिल्ला से नहीं हो सकती। इसलिए उनकी हालत बिगड़ती रही। आख़िरकार, वे इन्हीं परेशानियों में 1971 में एक जीप से टकरा गए और सड़क पर ही उनका निधन हो गया।

ज़िंदगी में एक गलती भी सारी संभावनाओं को बर्बाद कर देती है और आदमी को नाकामी के बिल्कुल आखिरी किनारे पर पहुँचा देती है।

यही नियम ज़िंदगी के हर मामले का है। यहाँ हर "नीम" के साथ एक कीड़ा होता है। यहाँ हर काम के साथ उसकी एक कमज़ोरी जुड़ी होती है। आदमी को इन कमज़ोरियों से पूरी सतर्कता के साथ बचकर चलना होता है। वह जिस काम में भी लापरवाही करेगा, उसकी कमज़ोरी अपना असर दिखाएगी और पूरे काम को बिगाड़ देगी।

यदि नीम के पेड़ का मालिक कीड़े के खिलाफ़ विरोध भी करे, तो भी ऐसा कभी नहीं हो सकता कि नीम के तने में कीड़े न लगें। इस कीड़े का होना प्रकृति के नियम के तहत है। और जिस चीज़ के पीछे प्रकृति के नियमों की इजाज़त हो, उसे किसी भी तरह ख़त्म करना संभव नहीं है।

इसी तरह मनुष्य के जीवन के मामलों में जो "कीड़े" लगते हैं, वे भी प्रकृति के नियमों की वजह से होते हैं। वे हर हाल में बने रहेंगे। उनके खिलाफ़ विरोध और शिकायत का तूफ़ान खड़ा करना बिल्कुल बेकार है। उनके मुक़ाबले में हमें बचाव का तरीक़ा ढूँढना है, न कि उनके ख़िलाफ़ नारों का हंगामा करना।

बचाव या सुरक्षा इस दुनिया का एक स्थायी नियम है। इस दुनिया में वही लोग जी सकते हैं जो अपने बचाव का ध्यान रखते हों। जो लोग अपने बचाव में लापरवाह हो जाएँ, उनके लिए अल्लाह की इस दुनिया में विनाश के अलावा और कुछ नहीं।

अथाह संभावनाएँ

अफगानिस्तान के सफ़र (अक्टूबर 1988) में एक दिलचस्प चीज़ देखने को मिली, जो इससे पहले मैंने नहीं देखी थी। इसे आम भाषा में फ़िश (fish) कहा जाता है। यह अमेरिकियों द्वारा बनाए गए उस ख़तरनाक हथियार का जवाब है, जिसे स्टिंगर (stinger) कहा जाता है। फ़िश के तरीक़े को इस्तेमाल करने को फ़िशिंग (fishing) कहते हैं।

अफगानिस्तान में रूसी फ़ौजों के आने (दिसंबर 1979) के बाद रूसियों और अफ़ग़ान मुजाहिदीन के बीच लगातार लड़ाई शुरू हो गई। अफ़ग़ान मुजाहिदीन के पास सिर्फ़ ज़मीनी ताक़त थी। जबकि रूसियों का हाल यह था कि वे हेलीकॉप्टर पर सवार होकर उनके ठिकानों को अपने बमों का निशाना बनाते थे।

यह बहुत ही नाज़ुक स्थिति थी। अफ़ग़ान मुजाहिदीन बंदूक के सहारे जहाज़ों को मारने की कोशिश तो करते थे, लेकिन बंदूक से निकली हुई गोली सीधी जाती है। इसलिए हवा में तेज़ गति से चलने वाली किसी चीज़ को गोली का निशाना बनाना बहुत मुश्किल होता है। इसी वजह से अफ़ग़ान मुजाहिदीन कोशिश के बावजूद, रूस के बम बरसाने वाले जहाज़ों को ज़्यादा गिरा नहीं पा रहे थे।

उस समय अमेरिका ने अफ़ग़ान मुजाहिदीन को नई तरह का एंटी-एयरक्राफ़्ट मिसाइल दिया, जिसे स्टिंगर (stinger) कहा जाता है। अब अफ़ग़ान मुजाहिदीन को रूस के बम बरसाने वाले जहाज़ों पर साफ़ बढ़त मिल गई। वे जैसे ही आसमान में रूसी जहाज़ देखते, उस पर स्टिंगर चला देते, और स्टिंगर पीछा करते हुए जहाज़ को मार देता। क्योंकि स्टिंगर किसी साधारण गोले की तरह सीधा नहीं जाता। वह जहाज़ की दिशा के अनुसार अपनी दिशा बदलता हुआ आगे बढ़ता है और आख़िरकार उसे मार गिराता है।

पहले अगर अफ़ग़ानी मुजाहिदीन रक्षात्मक स्थिति में थे, तो अब रूसी वायुसेना रक्षात्मक स्थिति में आ गई। लेकिन इस दुनिया में संभावनाएँ इतनी ज़्यादा हैं कि कोई भी खोज अगली ज़्यादा बड़ी खोज की संभावना को ख़त्म नहीं करती। इसलिए रूसियों ने बहुत जल्दी स्टिंगर का जवाब ढूँढ लिया। इसी जवाब का

नाम “फ़िश” है। रूसियों ने पता लगाया कि स्टिंगर की तकनीक यह है कि वह गर्मी की ओर दौड़ता है। क्योंकि उस समय हवा में सबसे ज़्यादा गर्म चीज़ हवाई जहाज़ का इंजन होता है, इसलिए वह उसका पीछा करता है और इंजन से टकरा जाता है, और इस तरह जहाज़ को नष्ट कर देता है।

रूसियों ने स्टिंगर के जवाब में “फ़िश” को खोजा। यह एक ख़ास तरह का रासायनिक पदार्थ है, जो हवाई जहाज़ से बाहर आते ही जल उठता है और तेज़ आग का गोला बन जाता है। आग के इस गोले की गर्मी हवाई जहाज़ के इंजन की गर्मी से ज़्यादा होती है। इसलिए हवाई जहाज़ पर चलाया गया स्टिंगर, हवाई जहाज़ से टकराने के बजाय उस लौ (फ़िश) की तरफ़ जाता है और उससे टकरा जाता है। इस तरह हवाई जहाज़ उसकी मार से बच जाता है।

इस घटना में एक बहुत ही महत्वपूर्ण बात है—और वह है दूसरे पक्ष की कमज़ोरी से फ़ायदा उठाना। इस मुक़ाबले की दुनिया में वही लोग सफल होते हैं जो दूसरे पक्ष की कमज़ोरी को पहचान सकें और उससे फायदा उठाने की क्षमता दिखाएँ।

रूसियों ने इस मामले में यही क्षमता दिखाई। उन्होंने स्टिंगर की इस कमज़ोरी से फ़ायदा उठाया कि उसके अंदर इंसानी समझ नहीं होती। उसकी मार कोई सोच-समझकर की गई मार नहीं होती, वह एक मशीन की तरह काम करता है। वह एक भौतिक चीज़ होने के कारण हवाई जहाज़ को पहचान नहीं सकता। वह “गर्मी” को निशाना बनाता है, “हवाई जहाज़” को नहीं। जब रूसियों ने यह राज़ जान लिया, तो उन्होंने मानो आधी लड़ाई जीत ली। स्टिंगर के मुक़ाबले में फ़िश का इस्तेमाल इसी समझदारी की एक सफल मिसाल है।

सच्चाई यह है कि इस दुनिया में हर चीज़ का कोई न कोई जवाब मौजूद है। यहाँ ख़तरों के मुक़ाबले में हमेशा संभावनाओं की संख्या ज़्यादा होती है, बशर्ते कि परेशानी आने के बाद आदमी अपना साहस न खोए। वह अल्लाह द्वारा दी गई बुद्धि को इस्तेमाल करके ख़तरे का तोड़ ढूँढ सके।

यही बात हदीस में इन शब्दों में कही गई है, “एक मुश्किल दो आसानी पर कभी भी भारी नहीं पड़ सकती।” (शुअब अल-ईमान, अल-बैहक़ी, हदीस संख्या 9541)। दूसरे शब्दों में, इस दुनिया में अगर मुश्किल एक है, तो उसके मुक़ाबले

में आसानियों की मात्रा दोगुनी है। यहाँ अगर एक रास्ते में रुकावट आ जाए, तो वहीं दूसरा रास्ता आगे बढ़ने के लिए खुला होता है।

ऐसी हालत में शिकायत और विरोध न सिर्फ़ बे-फ़ायदा है, बल्कि यह खुद अल्लाह के प्रति अविश्वास का इज़हार है। यह अल्लाह की ख़ुदाई को छोटा दिखाने जैसा है। शिकायत और विरोध करने वाला व्यक्ति एक साथ दो नुक़सान करता है। पहला यह कि वह अपनी नाकामी को दोबारा कामयाबी में बदलने की संभावना का उपयोग नहीं कर पाता। दूसरा यह कि अल्लाह की नज़र में वह इस बात का दोषी ठहरता है कि उसने एक पूरी और संतुलित दुनिया को कमज़ोर और अधूरी दुनिया कहने की हिम्मत की।

यह सच है कि यह दुनिया अनंत संभावनाओं से भरी है। पिछले समय की कोई कमी भविष्य के मौकों को बर्बाद नहीं करती। दुश्मन की कोई कार्रवाई किसी नए और उससे बेहतर क़दम की संभावना को ख़त्म नहीं करती। हर नुक़सान के बाद यह मौक़ा बना रहता है कि इंसान दोबारा कोशिश करके खुद को फिर से सफल बना ले।

इंसान को चाहिए कि वह पीछे की ओर देखने के बजाय आगे की ओर देखे। वह हर खोई हुई चीज़ को फिर से पाने की कोशिश करे। वह हारी हुई बाज़ी को मेहनत और काम के ज़रिए दोबारा जीत ले।

नमूने के अल्पसंख्यक

एशियाई देशों के जो लोग अमेरिका में रहते हैं, उन्हें एशियाई अमेरिकी (Asian Americans) कहा जाता है। ये लोग 1965 से आकर यहाँ बसना शुरू हुए। वे ज़्यादातर चीन, कोरिया, इंडोचाइना आदि देशों से आते हैं। जब ये लोग यहाँ आए थे, तो उनकी हालत यह थी कि उनमें से कई लोग अंग्रेज़ी में साधारण बातचीत भी नहीं कर पाते थे। आज वे, रीडर्स डाइजेस्ट की रिपोर्ट के अनुसार, अमेरिका के बेहतरीन इंग्लिश स्कूलों में उच्चतम दर्जे के विद्यार्थी बन चुके हैं।

इनकी संख्या हालाँकि कुल आबादी में केवल 2 प्रतिशत है, लेकिन विभिन्न अमेरिकी संस्थानों में इन्होंने 20 प्रतिशत तक जगह हासिल कर ली है। वे हर जगह ज़्यादा योग्य (overqualified) साबित हो रहे हैं।

इस स्थिति ने अमेरिकी विचारकों को सोचने पर मजबूर कर दिया। इसलिए इस पर बाक़ायदा शोध किया गया। इस शोध की रिपोर्ट अलग-अलग अमेरिकी और ग़ैर-अमेरिकी पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई है। कुछ संदर्भ ये हैं:

1. *New York Times*, New York, (August 3, 1986)
2. Why Asian Americans are doing so well. (*Times Magazine*, New York, August 31, 1987)
3. Why Asian American students excel. (*Reader's Digest*, August 1987)
4. Why Asians succeed in America Span. (*Span*, December 1987)
5. Among the top 6 science students of the United States. (*The Hindustan Times*, New Delhi, August 30, 1987)

आम अमेरिकी युवाओं की तुलना में एशियाई अमेरिकी शिक्षा के हर क्षेत्र में आगे क्यों हैं? इसकी वजह यह है कि उनकी मेहनत की मात्रा अमेरिकी युवाओं से ज़्यादा है। हार्वर्ड यूनिवर्सिटी में मनोविज्ञान के प्रोफ़ेसर जेरोम कैगन से पूछा गया कि एशियाई अमेरिकी विद्यार्थी असली अमेरिकी विद्यार्थियों की तुलना में ज़्यादा सफल क्यों हैं। टाइम की रिपोर्ट के अनुसार, उन्होंने कहा कि इसका साधारण जवाब यह है कि वे ज़्यादा मेहनत करते हैं:

To put it plainly, they work harder.

ये लोग शिक्षा को अपने लिए कामयाबी का टिकट (ticket to success) समझते हैं, और सचमुच अमेरिका की शिक्षा-व्यवस्था उनके लिए कामयाबी

का पक्का टिकट साबित हुआ है। इस टिकट को पाने के लिए उन्होंने जो कीमत चुकाई, वह एक शब्द में उत्कृष्टता (excellence) है।

अपने इसी रवैये से उन्होंने अमेरिका में नमूना अल्पसंख्यक (model minority) का दर्जा हासिल कर लिया है। हालाँकि अमेरिका में उनके लिए रास्ता बिल्कुल खुला हुआ नहीं था। उन्हें नस्लीय भेदभाव और अपमानजनक व्यवहार का सामना करना पड़ा। अमेरिकी युवा उनका मज़ाक उड़ाते और उन्हें पीला ख़तरा (yellow peril) कहते। यहाँ तक कि उन्हें शारीरिक रूप से मारने-पीटने की घटनाएँ भी झेलनी पड़ीं। लेकिन एशियाई अमेरिकियों ने इसके जवाब में किसी भी तरह की प्रतिक्रिया नहीं दिखाई। वे शिकायत और विरोध के तरीक़े से पूरी तरह दूर रहे। इसके बदले में उन्होंने सिर्फ़ एक काम किया—अपनी मेहनत की मात्रा बढ़ा दी। उनके माता-पिता ने उनकी भावनाओं को जवाबी उत्तेजना से बचाकर उन्हें मेहनत की दिशा में लगा दिया। एशियाई परिवारों में शिक्षा एक तरह का जुनून (obsession) बन गई है। एशियाई अमेरिकियों के घरों में माहौल यह हो गया कि अगर उनका लड़का 80 प्रतिशत नम्बर लाए तो वे कहेंगे कि 85 क्यों नहीं लाए; और अगर वह 85 प्रतिशत लाए तो उसका पिता कहेगा कि तुम 90 भी ला सकते थे।

किसी समूह को समस्याओं का सामना करना पड़ता है तो उसके लिए अपने मुद्दे को हल करने के दो तरीके होते हैं। पहला तरीक़ा वह है जो हमें भारत में दिखाई देता है—यानी माँग और विरोध। इस तरीके पर चलने में एक साथ 2 नुकसान हैं। पहला यह कि असली समस्या हल होने के बजाय और भी उलझ जाती है। इस दुनिया में हर चीज़ मेहनत से मिलती है, माँग से नहीं। और जो चीज़ मेहनत से मिलती हो, उसे माँग करके पाने की कोशिश करना उसे और दूर कर देना है।

दूसरी बात यह कि ऐसा समूह दूसरों की नज़र में अपना सम्मान खो देता है। माँग और विरोध का मतलब अपने मुद्दों का बोझ दूसरों पर डालना है—और कौन है जो अपना बोझ दूसरों पर डालकर भी उनकी नज़र में सम्मानित रह सके?

इसके विपरीत, उदाहरण अमेरिका के एशियाई अमेरिकी समूह का है। उन्होंने अपनी समस्या का हल यह निकाला कि वह अपनी पूरी ज़िम्मेदारी खुद ले लें। वे उत्तेजना के बावजूद उत्तेजित न हों और पूरी तरह शांत रहकर दूसरों से ज़्यादा मेहनत करें। उनका अनुभव बताता है कि इस तरह काम करने से उनकी समस्या पूरी तरह हल हो गई, बल्कि उन्होंने अपनी संख्या से कई गुना बड़ा हिस्सा अपने लिए हासिल कर लिया।

नकारात्मक रवैया अपनाना यानी अपनी समस्या का बोझ दूसरों पर डालना, और सकारात्मक रवैये का मतलब अपनी समस्या की ज़िम्मेदारी खुद लेना। इसलिए सकारात्मक रवैया अपनाने का एक और फायदा यह होता है कि ऐसे लोग समाज में कोई उलझन पैदा नहीं करते। इसी कारण जब एशियाई अमेरिकियों ने सकारात्मक तरीक़े से अपनी समस्या हल करने का रास्ता निकाला, तो वे अमेरिकी समाज में और भी बड़े फ़ायदे पैदा करने का कारण बन गए।

सबसे पहले यह कि उन्होंने अमेरिकी युवाओं के बीच प्रतियोगिता का माहौल पैदा किया। वे अमेरिकी युवा, जो अपने आप को सुरक्षित समझकर मेहनत में कमी करने लगे थे, उनके अंदर यह भावना जाग उठी कि अगर उन्हें ज़िंदा रहना है और तरक़्क़ी करनी है, तो उन्हें भी एशियाइयों की तरह ज़्यादा मेहनत करनी पड़ेगी।

टाइम की रिपोर्ट के अनुसार, खुद अमेरिकी बुद्धिजीवियों को यह स्वीकार करना पड़ा कि एशियाई अमेरिकियों ने हमारे युवाओं की सुस्ती को खत्म करके उन्हें फिर से चुस्त बना दिया है। हमारे समाज में उनकी मौजूदगी हमारे लिए एक बहुत बड़ी नेमत है:

> Their Presence is going to be a great blessing for society (p. 53)

स्पैन (दिसंबर 1987) की रिपोर्ट के अनुसार, न्यूयॉर्क के एक मध्यम उम्र के व्यक्ति ने कहा कि एशियाई अमेरिकियों के लिए अल्लाह का शुक्र करता हूँ, वे हमारे स्कूलों में फिर से मानक (standards) वापस ला रहे हैं:

> Thank God for the Asians. They are bringing standards back to our schools (p. 32).

2. एशियाई अमेरिकी समूह को दूसरा फायदा यह मिला कि जब उन्होंने आर्थिक सम्मान हासिल कर लिया, तो उनकी संस्कृति भी लोगों की नज़र में सम्मानित बन गई। उनकी क़ौमी परंपराएँ अमेरिकियों की नज़र में क़ाबिल-ए-इज़्ज़त हो गईं। ये एशियाई अमेरिकी लोग कन्फ़्यूशियस को अपना धार्मिक मार्गदर्शक मानते हैं। जब एशियाई अमेरिकियों की एक सराहनीय विशेषता अमेरिकियों के सामने आई, तो उन्होंने इस विशेषता को उनके क़ौमी बुज़ुर्ग (कन्फ़्यूशियस) से जोड़ दिया। एशियाई अमेरिकियों के उत्कृष्ट आचरण ने अमेरिकियों की नज़र में उनके धर्म और उनकी संस्कृति को क़ाबिल-ए-ध्यान बना दिया। स्पैन की रिपोर्ट के अनुसार, न्यूयॉर्क यूनिवर्सिटी के प्रेसीडेंट ने कहा कि जब मैं अपने एशियाई विद्यार्थियों को देखता हूँ तो मुझे यक़ीन होता है कि उनकी सफलता का अधिकतर हिस्सा कन्फ़्यूशियस की शिक्षाओं का नतीजा है:

> When I look at our Asian-American students, I am certain that much of their success is due to Confucianism. (p.32)

एशियाई प्रवासियों का मुक़ाबला जब आम अमेरिकियों से होता है, तो वे उनके मुकाबले में ज़्यादा योग्य (overqualified) साबित होते हैं। इस तरह वे आम अमेरिकियों के लिए एक प्रेरक ताक़त या चुनौती बन गए हैं। वे अमेरिकी युवाओं में मेहनत का नया उत्साह पैदा करने का साधन बन रहे हैं। एशियाई प्रवासियों ने सकारात्मक तरीक़े से अपना निजी सवाल हल किया था, और इसका नतीजा यह हुआ कि अमेरिकी समाज का अपना सवाल भी हल हो गया।

एशियाई प्रवासियों ने अमेरिका में सिर्फ़ एक पीढ़ी के अंदर वह सफलता हासिल की है जिसे आम तौर पर लोग तीन पीढ़ियों में हासिल करते हैं। उनकी इस असाधारण सफलता ने अमेरिका में एक नई शब्दावली पैदा की है जिसे एशियाई कार्य नैतिकता (Asian work ethics) कहा जाता है। अब वहाँ यह कहा जाने लगा है कि अगर ऊँची तरक़्क़ी हासिल करनी है तो एशियाई कार्य नैतिकता को अपनाओ।

यही दरवाज़ा भारतीय मुसलमानों के लिए भी बहुत बड़े स्तर पर खुला हुआ है। मुसलमान अगर उन क़ौमी झगड़ों को छोड़ दें जिनमें उनके सतही नेताओं ने उन्हें बे-फायदा उलझा रखा है, और वे इस्लाम के दिए हुए शाश्वत सिद्धांतों पर अपनी ज़िंदगी के सकारात्मक निर्माण की शुरुआत कर दें, तो वे इस देश में एक नए बदलाव का कारण बन सकते हैं। इस तरह मुसलमान न सिर्फ़ अपना सवाल हल करेंगे बल्कि वे इस देश को एक नया स्तर देंगे, जिसे एक शब्द में मुस्लिम कार्य नैतिकता (Muslim work ethics) कहा जा सकता है। और जब ऐसा होगा, तो मुसलमान इस देश पर बोझ समझे जाने के बजाय उसकी प्रगति और निर्माण में योगदान देने वाली एक मूल्यवान पूँजी बन जाएँगे।

भारत के मुसलमान अब तक सांस्कृतिक पहचान (cultural identity) हासिल करने की मांग पर आधारित आंदोलन चलाने में लगे हुए हैं। मेरी नज़र में इस तरह की सारी कोशिशें बिल्कुल बे-फायदा हैं, क्योंकि सांस्कृतिक पहचान अपनी आंतरिक शक्ति से स्थापित होती है, वह माँग करके हासिल नहीं होती।

ज़्यादा सही बात यह है कि मुसलमान नैतिक पहचान को अपना लक्ष्य बनाएँ। वे इस्लामी नैतिकता को अपनी पहचान का प्रतीक बनाएँ। मुसलमान अगर नैतिक रूप से अपनी पहचान स्थापित कर सकें, तो वे सांस्कृतिक रूप से भी अपनी पहचान अपने आप पा लेंगे, जिसके लिए वे बे-फायदा माँग-आधारित मुहिम में लगे हुए हैं।

समझौता-आधारित नीति

मौजूदा साल की शायद सबसे ज़्यादा महत्वपूर्ण घटना सोवियत रूस और अमेरिका की वह समझौता-नीति है, जिसे टाइम (30 मई 1988) ने ठीक ही “ग्रैंड कम्प्रोमाइज़” (grand compromise) का नाम दिया है। सोवियत रूस और अमेरिका—दोनों दुनिया की सबसे बड़ी शक्तियाँ (superpowers) मानी जाती हैं। पिछले 70 सालों से दोनों के बीच कड़ी प्रतिद्वंद्विता जारी है। दोनों

एक-दूसरे के ख़िलाफ़ टकराव की नीति पर क़ायम थे। दोनों देशों के प्रेस और मीडिया का काम यह था कि वे एक-दूसरे पर आरोप लगाएँ और एक-दूसरे की निंदा करते रहें। लेकिन लंबे अनुभव के बाद, अब दोनों टकराव के बजाय सुलह की बातें कर रहे हैं। वे हथियारों की दौड़ के बजाय बातचीत की दौड़ पर अपना ध्यान लगा रहे हैं। वे प्रतिद्वंद्विता के तरीक़े को छोड़कर समझौते के तरीक़े को अपना रहे हैं।

सोवियत रूस के एक ज़िम्मेदार व्यक्ति ने इस नई नीति को हल-रुखी (solution-oriented) नीति का नाम दिया है। इससे पहले दोनों का पूरा ध्यान इस पर लगा रहता था कि वे एक-दूसरे को ग़लत साबित करें, लेकिन अब उन्होंने इस तरह की बातों को नज़रअंदाज़ करते हुए अपना सारा ध्यान इस पर लगा दिया है कि असल समस्या का हल क्या है। यह घटना, जो सोवियत रूस और अमेरिका के बीच पेश आई है, उसमें दूसरी क़ौमों के लिए बहुत बड़ा सबक है। मौजूदा ज़माने में टकराव और झगड़े की नीति इतना महँगा सौदा बन चुकी है कि बड़ी ताक़तें भी इसका बोझ नहीं उठा सकतीं। फिर छोटी क़ौमें कैसे इस विनाशकारी शौक़ का बोझ उठा सकती हैं?

हक़ीकत-पसंदी की तरफ़

निकीता ख़ुश्चेव 1958 से 1964 तक सोवियत रूस के प्रधानमंत्री थे। उन्होंने पूँजीवादी दुनिया को संबोधित करते हुए अपना मशहूर वाक्य (*हिंदुस्तान टाइम्स*, 28 जून 1988) कहा था कि हम तुम्हें दफ़न कर देंगे:

We will bury you.

इसी तरह अमेरिका के राष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन ने 1983 में सोवियत रूस को “शैतानी साम्राज्य” (the evil empire) कहा था। अमेरिकी अधिकारियों का कहना था कि हम साम्यवादी रूस को समुद्र में धकेल देंगे। लेकिन साम्यवादी

क्रांति के सत्तर साल बाद, 1988 में अंततः दोनों देशों को अपनी सोच बदलनी पड़ी। रूस के नेता बातचीत के लिए अमेरिका जाने लगे। रोनाल्ड रीगन ने खुद मॉस्को का दौरा किया (28 जून से 2 जुलाई 1988), जिसे वे पहले असंभव मानते थे। दौरे से पहले वाशिंगटन में (*हिंदुस्तान टाइम्स*, 26 मई 1988) उन्होंने कहा कि मॉस्को के साथ अमेरिका का संबंध हक़ीकत-पसंदी के आधार पर होना चाहिए:

U.S. relations with Moscow must be guided by realism.

चालीस साल से दोनों देशों के बीच हथियारों की दौड़ (arms race) चल रही थी। दोनों एक-दूसरे को तबाह करने के लिए इतिहास के सबसे ख़तरनाक हथियार बनाने में लगे हुए थे। लेकिन आज वे अपने बनाए हुए हथियारों पर खुद ही पाबंदी लगा रहे हैं, बल्कि उन्हें नष्ट भी कर रहे हैं। टाइम्स ऑफ़ इंडिया (3 अगस्त 1988), सेक्शन 2, पेज 1 पर एक ख़बर है जिसकी हेडलाइन यह है:

USSR destroys 4 missiles

(सोवियत रूस अपने चार मिसाइलों को नष्ट करता है)।

ख़बर में बताया गया है कि 2 अगस्त 1988 को सोवियत रूस ने सर्योज़ेक (Saryozek) में चार छोटी रेंज के मिसाइल (OTR-22) नष्ट कर दिए। यह घटना कई देशों के प्रतिनिधियों की मौजूदगी में हुई, जिनमें भारत और अमेरिका के प्रतिनिधि भी शामिल थे। मिसाइलों को खत्म करने का यह काम उस समझौते के तहत किया गया है जो रीगन और गोर्बाचेव के बीच हुआ है।

समझौते के तहत सोवियत रूस अगले तीन साल में अपने 1752 मिसाइलों को नष्ट करेगा, जिनकी रेंज 500 किलोमीटर से लेकर 5500 किलोमीटर तक है। अमेरिका, समझौते के अनुसार, अपने इसी प्रकार के 859 मिसाइलों को नष्ट करेगा।

रूस और अमेरिका की नीति में इस नाटकीय बदलाव का राज़ यह है कि हथियार बनाने और सैन्य श्रेष्ठता हासिल करने की कोशिश में दोनों देशों की तरक़्क़ी रुक गई। एक-दूसरे के खिलाफ हथियारों की दौड़ (arms race) और एक-दूसरे के खिलाफ आरोप लगाने वाली (blame-oriented) नीति में आधी सदी गुजारने के बाद उन्हें यह समझ में आया कि इस नकारात्मक तरीके से वे किसी भी तरह का कोई फ़ायदा नहीं उठा सके। बल्कि एक-दूसरे की काट करने की कोशिश में दोनों ने खुद अपने आप को तबाही के किनारे पर पहुँचा दिया। इसलिए अब उन्होंने पुरानी नीति को छोड़कर हल-रुखी (solution-oriented) नीति अपनाने का फैसला किया है।

अमेरिका और रूस

अमेरिका ने अपनी पूरी ताकत युद्ध मशीन तैयार करने में लगा दी। नतीजा यह हुआ कि आर्थिक क्षेत्र में वह अपने ही जीते हुए देश जापान से भी पीछे रह गया। आज अमेरिका दुनिया का सबसे बड़ा कर्ज़दार देश है। उस पर 400 बिलियन डॉलर का बाहरी कर्ज़ है, जबकि जापान आज सबसे बड़ा उधार देने वाला देश है। उसने दुनिया को 240 बिलियन डॉलर उधार दे रखा है। अमेरिकी डॉलर, जो पिछले पचास साल से आर्थिक दुनिया का बादशाह बना हुआ था, उसकी यह हैसियत बुरी तरह कमज़ोर हो गई। यहाँ तक कि यह सवाल उठने लगा कि क्या अमेरिका अपने महा शक्ति होने की स्थिति (Super power status) को बचाए रख सकता है (विस्तृत जानकारी के लिए: *टाइम*, 4 जुलाई 1988).

डॉ. हेनरी किसिंजर ने एक इंटरव्यू (*टाइम्स ऑफ़ इंडिया*, 9 अगस्त 1988) में कहा कि नई बुनियादी हक़ीक़त यह है कि दुनिया में कुछ नई ताक़तें उभर आई हैं। जैसे कि चीन और भारत। जापान दिन-प्रतिदिन ज़्यादा ताक़तवर होता जा

रहा है। ऐसी स्थिति में अमेरिका को दूसरे देशों को नज़रअंदाज़ करने की नीति छोड़नी पड़ेगी। अमेरिका के लिए ज़रूरी है कि वह नए शक्ति-केंद्रों के साथ तालमेल बिठाए:

The US will have to adjust to new centers.

19वीं ऑल सोवियत पार्टी कॉन्फ्रेंस जून 1988 के आख़िरी हफ़्ते में मॉस्को में हुई, जिसमें पूरे देश से पाँच हज़ार डेलीगेट शामिल हुए। इस मौके पर रूसी प्रधानमंत्री गोर्बाचेव ने साढ़े तीन घंटे का भाषण दिया। इस लंबे भाषण में उन्होंने बड़ी शिद्दत के साथ आत्म-आलोचना (self-criticism) की वकालत की। उनके इस भाषण का संक्षिप्त पाठ टाइम्स ऑफ़ इंडिया (29 जून 1988), पेज 11 पर देखा जा सकता है।

मिस्टर क्वेंटिन पील (Quentin Peel) एक अख़बार के पत्रकार की हैसियत से स्वयं मॉस्को की इस कॉन्फ्रेंस में मौजूद थे। उन्होंने रूसी नेताओं के भाषण सुने और उनसे मुलाक़ातें कीं। उन्होंने रूसी प्रधानमंत्री मिस्टर गोर्बाचेव के साढ़े तीन घंटे के भाषण का सार इन शब्दों में बयान किया है:

> The message seemed plain enough: the party would have to renounce its stifling role in the administration and economy of the country. Power and privilege would have to be curbed, science and initiative given their head, if the Soviet Union were to compete with the rest of the world, let alone be a superpower.

संदेश बाहर से बिल्कुल साफ़ था। कम्युनिस्ट पार्टी को देश की प्रशासनिक और आर्थिक व्यवस्था पर अपने कड़े नियंत्रण को छोड़ना होगा। ताक़त और विशेषाधिकार को सीमित करना होगा। विज्ञान और पहल (initiative) को आगे बढ़ाना होगा—अगर सोवियत यूनियन को बाकी दुनिया का मुक़ाबला करना है, महा-शक्ति (superpower) की हैसियत को बनाए रखना तो दूर की बात है।

पेरेस्त्रोइका

इन हालात ने रूसी प्रधानमंत्री मिस्टर मिखाइल गोर्बाचेव को मजबूर कर दिया कि वे हक़ीक़त का इकरार करें। उन्होंने साम्यवादी (कम्युनिस्ट) श्रेष्ठता के रवैये को छोड़ते हुए रूस में बदलाव लाने की एक नई मुहिम शुरू की, जिसे वे दो शब्दों में बयान करते हैं। पहला है ग्लास्नोस्त (glasnost)—यह एक रूसी शब्द है जिसका मतलब है खुलापन (openness)। दूसरा है पेरेस्त्रोइका (Perestroika)—इसका मतलब रूसी भाषा में पुनर्गठन (re-structuring) होता है। पेरेस्त्रोइका के नाम से मिस्टर गोर्बाचेव की एक किताब भी प्रकाशित हुई है, जिसका अंग्रेज़ी नाम इस तरह है:

> Perestroika: New Thinking for our Country and the World.

इस आंदोलन के तहत रूस की पुरानी व्यवस्था में बड़े परिवर्तन किए जा रहे हैं। इनमें धार्मिक आज़ादी देना और अमेरिका जैसे पुराने विरोधी देश के साथ दोस्ताना संबंध बनाना भी शामिल है। इस सिलसिले में बहुत ही सीख देने वाली रिपोर्टें अख़बारों में छपी हैं। इनमें से एक रिपोर्ट वह है जो लॉस एंजेल्स और वॉशिंगटन पोस्ट न्यूज़ सर्विस के तहत अख़बारों में आई है। हिंदुस्तान टाइम्स (16 जनवरी 1988) ने इसे मिस्टर रॉय गट्टमैन (Roy Gutman) के नाम से प्रकाशित किया है। इसका शीर्षक इस प्रकार है:

> Kremlin, White House now realistic. (p. 20)

रिपोर्ट में बताया गया है कि हाल की घटनाओं के बाद रूस और अमेरिका के संबंधों में एक ऐतिहासिक परिवर्तन (historic shift) आया है। दोनों देशों में नई सोच (New thinking) पैदा हुई है। क्रेमलिन और व्हाइट हाउस—दोनों एक-दूसरे के मामले में हक़ीकत-पसंद बन रहे हैं। यह रिपोर्ट हम यहाँ अलग पेज पर नकल कर रहे हैं।

रूस के उप-विदेश मंत्री अलेक्ज़ेंडर बेस्मेर्टनिख ने कहा कि रूस और अमेरिका के बीच अब नई सोच उभर रही है। दोनों देशों के संबंधों में बड़ा परिवर्तन देखने को मिल रहा है और उनके रिश्ते एक नए ऐतिहासिक दौर में प्रवेश कर रहे हैं। अमेरिकी अधिकारी पहले कहा करते थे कि हम कम्युनिज़्म के फैलाव को रोक देंगे, हम उन्हें समुद्र में डुबा देंगे। मगर अब उन्होंने जान लिया है कि यह नामुमकिन है। पहले दोनों देश एक-दूसरे की निंदा करने और एक-दूसरे को काटने में लगे रहते थे, लेकिन यह नीति बिल्कुल बे-फायदा रही। अब दोनों तरफ के लोग हक़ीक़त-पसंद बन रहे हैं। अब हमारी टीम और उनकी टीम—दोनों हल-रुखी (solution-oriented) हैं:

> That team and our team are solution-oriented.

पेरेस्त्रोइका के उद्देश्य और लक्ष्य क्या हैं, इसकी व्याख्या मिस्टर गोर्बाचेव ने विशेष साम्यवादी भाषा में इस तरह की है:

> "और ज़्यादा लोकतंत्र, और ज़्यादा समाजवाद, मेहनतकश इंसान के लिए और बेहतर ज़िंदगी, क़ौम के लिए और ज़्यादा महानता, ऊँचाई और समृद्धि।"

मगर हक़ीक़त यह है कि पेरेस्त्रोइका समाजवाद की ओर "अगला क़दम" नहीं है—बल्कि समाजवाद से वापसी है। क्योंकि मार्क्स और लेनिन की व्याख्या के अनुसार समाजवाद की तरक़्क़ी पूँजीवाद की मौत के बाद होनी थी। समाजवाद की हर प्रगति पूँजीवादी व्यवस्था की वापसी और कमज़ोरी के बराबर थी। लेकिन आज सोवियत रूस, गोर्बाचेव की क़ियादत में, पूँजीवादी व्यवस्था से समझौता कर रहा है—बल्कि वह उसकी क़दरें अपनाकर अपने देश में तरक़्क़ी और खुशहाली का सपना देख रहा है।

पेरेस्त्रोइका समाजवादी सिद्धांतों की सत्यता का सबूत नहीं है। यह इस बात का सबूत है कि इस दुनिया में सफलता सच्चाइयों को स्वीकार किए बिना मुमकिन

नहीं। रेगन के शब्दों में: इस धरती पर हमें अच्छे और बुरे—दोनों तरह के लोगों के साथ रहना है। हक़ीक़त-पसंदी और समझौता ही इस दुनिया में तरक़्क़ी और कामयाबी का राज़ है।

चर्चा का निष्कर्ष

रूस और अमेरिका के संबंधों में यह बदलाव बेशक एक बहुत महत्वपूर्ण घटना है। आधुनिक इतिहास की इस घटना में बहुत बड़ा सबक़ है। यह घटना साफ़ तौर पर बताती है कि मौजूदा ज़माने में टकराव की नीति पूरी तरह अपनी अहमियत खो चुकी है। अपने प्रतिद्वंद्वी पर आरोप लगाना, उसको हानि पहुँचाने की कोशिश में लगे रहना, उसके साथ मुक़ाबला करना—यह सब रूस और अमेरिका जैसी शक्तियों के लिए भी पूरी तरह बे-फायदा है। फिर कमज़ोर क़ौमें इस तरह की नकारात्मक नीति अपनाकर किसी वास्तविक नतीजे की उम्मीद कैसे कर सकती हैं?

चाहे व्यक्ति का मामला हो या क़ौम का, दोनों के लिए समस्या का हल इसी तरीक़े में है। इस दुनिया में समझदारी यह है कि इंसान दूसरे को नुक़सान पहुँचाने के बजाय अपने निर्माण में लग जाए। समस्या को लेकर उसके नाम पर चिल्लाने या प्रतिद्वंद्वी के खिलाफ़ लड़ाई शुरू करने का मतलब सिर्फ़ अपने समय और शक्ति को बर्बाद करना है। इसके अलावा इसका कोई और परिणाम नहीं होता। एक शब्द में कहा जा सकता है कि तरक़्क़ी और कामयाबी का राज़ हल-रुखी नीति में है, न कि दोष-केंद्रित (blame-oriented) नीति में।

यह इस्लाम नहीं

एक स्थान पर रमज़ान के दौरान दंगा हो गया। वहाँ के एक व्यक्ति से 25 दिसम्बर 1987 को मेरी मुलाकात हुई। मैंने घटना की पूरी जानकारी पूछी। उन्होंने बताया कि रात का समय था। मुसलमान मस्जिद में तरावीह की नमाज़ पढ़ रहे थे। तभी सड़क की ओर से शोर सुनाई दिया। पता चला कि दूसरी समुदाय के लोगों की शादी की बारात गुजर रही है और वह जगह-जगह रुककर गाना-बजाना कर रही थी। उस समय मस्जिद से निकलकर कुछ मुसलमान सड़क पर आए और जुलूस में चल रहे लोगों से कहा कि आप लोग यहाँ शोर न करें, क्योंकि मस्जिद के अंदर हमारी नमाज़ चल रही है। लेकिन वे लोग नहीं माने। इस पर कहासुनी हुई और बढ़ते-बढ़ते फसाद हो गया।

मैंने कहा कि यह तो आप लोगों का तरीक़ा है। अब मैं आपको बताता हूँ कि इस मामले में रसूलुल्लाह (सल्ल०) का तरीक़ा क्या था। मैंने कहा कि आप जानते हैं कि शुरुआती समय में मक्का और बैतुल्लाह पर मुशरिकों का अधिकार था। वे लोग रसूलुल्लाह (सल्ल०) और उनके साथियों को तरह-तरह से तकलीफ़ देते थे। इन्हीं में से एक यह था कि जब रसूलुल्लाह सल्लल्लाहु अलैहि व सल्लम और उनके साथी बैतुल्लाह में जाते थे, तो वे लोग वहाँ आकर बहुत शोर करते थे। वे सीटी बजाते थे, ताली पीटते थे और कहते थे कि यह हमारी उपासना का तरीक़ा है। क़ुरआन में कहा गया है:

> "और बैतुल्लाह (काबा) के पास उनकी नमाज़ कुछ भी नहीं थी सिवाय सीटी बजाने और ताली पीटने के। तो अब अपने इनकार के कारण तुम आज़ाब का स्वाद चखो।" (8:35)

इस आयत की व्याख्या के सिलसिले में कुछ तफसीरों के संदर्भ इस प्रकार हैं:

> तफ़सीर इब्न कसीर (जिल्द 4, पृष्ठ 52) में यह बात लिखी है कि एक सहाबी अब्दुल्लाह बिनउमर ने कहा कि मक्का के मुशरिक

> अपने गालों को ज़मीन पर रखते थे और ताली बजाते थे तथा सीटी बजाते थे। मुजाहिद कहते हैं कि वे ऐसा इसलिए करते थे ताकि रसूल अल्लाह (सल्ल०) की नमाज़ को ख़राब कर दें। और ज़ुहरी ने कहा कि वे मुसलमानों का मज़ाक उड़ाने के लिए ऐसा करते थे।

तफ़सीर नसफ़ी (जिल्द 1, पृष्ठ 644) में लिखा है कि वे बैतुल्लाह (काबा) का नंगा तवाफ़ करते थे और अपनी उँगलियों को एक-दूसरे में फँसाकर उसमें सीटी बजाते और ताली पीटते थे। वे ऐसा उस समय करते थे जब रसूल अल्लाह (सल्ल०) नमाज़ में क़ुरान पढ़ते थे, ताकि उनकी क़िरा'अत को गड़बड़ा दें।

सफ़वतुत्तफ़ासीर (जिल्द 1, पृष्ठ 467) में लिखा है कि बैतुल्लाह में मुशरिकों की इबादत बस इतनी ही थी कि वे सीटी बजाते और तालियाँ पीटते थे। और ये दोनों काम वे उस समय करते थे जब मुसलमान नमाज़ पढ़ते, ताकि उनकी नमाज़ बिगाड़ सकें।

तफ़सीर मज़हरी (जिल्द 4, पृष्ठ 63) में लिखा है कि हज़रत सईद ने कहा कि क़ुरैश तवाफ़ के समय रसूल अल्लाह (सल्ल०) के सामने आ जाते थे। वे आपका मज़ाक उड़ाते थे, सीटी बजाते थे और ताली पीटते थे। और मुक़ातिल ने कहा कि जब रसूल अल्लाह (सल्ल०) मस्जिद हराम में नमाज़ पढ़ते थे, तो आपकी दाईं ओर दो आदमी खड़े हो जाते थे और दोनों सीटी बजाते थे, और आपकी बाईं ओर दो आदमी खड़े हो जाते थे और तालियाँ पीटते थे, ताकि रसूलुल्लाह (सल्ल०) की नमाज़ को गड़बड़ा दें।

रसूल अल्लाह (सल्लल्लाहु अलैहि व सल्लम) मक्का में 13 वर्ष रहे। वहाँ लगातार आपके साथ वही व्यवहार किया जाता रहा, जिसका उल्लेख ऊपर के उद्धरणों में किया गया है। लेकिन कभी ऐसा नहीं हुआ कि आपने उसके खिलाफ कोई विरोध किया हो या कोई जवाबी कार्रवाई की हो। आप इस तरह की सारी बातों पर एकतरफा धैर्य के साथ डटे रहे।

उस समय तक रसूलुल्लाह (सल्ल०) के आसपास ईमान वालों का एक मज़बूत समूह तैयार हो चुका था। वे अत्यंत साहसी थे और अपने प्राण तक न्योछावर करने के लिए तैयार रहते थे। इसके बावजूद, कभी ऐसा नहीं हुआ कि रसूलुल्लाह (सल्ल०) ने अपने साथियों के साथ मक्का वालों पर हमला किया हो या उनकी ज्यादतियों और दुर्व्यवहार का जवाब बल प्रयोग से दिया हो।

मक्का वालों के शोर-शराबे और विरोध के सामने आपका शांत रहना डर की वजह से नहीं था, बल्कि एक समझदारी भरी योजना का हिस्सा था। इस दुनिया का नियम है कि एक बड़े उद्देश्य को पाने के लिए कई दूसरी बातों को नज़रअंदाज़ करना पड़ता है। चूँकि आपका मुख्य लक्ष्य अल्लाह के संदेश को लोगों तक पहुँचाना था, इसलिए आपने विवाद और टकराव से दूर रहना उचित समझा। इसी कारण रसूलुल्लाह (सल्ल०) ने मक्का वालों की तमाम उकसाने वाली बातों को अनदेखा किया और पूरी एकाग्रता के साथ अल्लाह के संदेश को लोगों तक पहुँचाने के कार्य में लगे रहे। अंततः वह समय आया जब अल्लाह ने परिस्थितियाँ बदल दीं और मक्का वालों का सारा शोर-शराबा अपने आप समाप्त हो गया।

रसूलुल्लाह (सल्ल०) के समय में मस्जिद के अंदर घुसकर शोर–गुल किया जाता था। तब भी आप और आपके साथियों ने उसके खिलाफ कोई जवाबी कार्रवाई नहीं की। वर्तमान समय में मुसलमानों का हाल यह है कि मस्जिद के पास की सड़क पर कोई जुलूस शोर करता हुआ गुज़रे तो वे उससे लड़ने के लिए खड़े हो जाते हैं। अगर इस्लाम वह है जो रसूलुल्लाह (सल्ल०) ने किया तो मुसलमान जो कुछ कर रहे हैं वह इस्लाम नहीं है, और अगर इस्लाम वह है जो वर्तमान समय के मुसलमान कर रहे हैं तो रसूलुल्लाह (सल्ल०) ने जो कुछ किया वह इस्लाम नहीं था। अब मुसलमानों को अधिकार है कि वे दोनों में से जो बात चाहें, अपने लिए चुन लें।

हक़ीक़त-पसंदी

टाइम मैगज़ीन (13 फ़रवरी 1989) के कवर पर बड़े अक्षरों में लिखा हुआ था: “साथी फिर से” (comrades again)। जैसा कि मालूम है, चीन और रूस दोनों कम्युनिस्ट देश हैं, लेकिन उनके बीच कम से कम 30 वर्ष से आपसी दुश्मनी चली आ रही थी। अब दोनों देश एक-दूसरे के करीब आ रहे हैं। टाइम के उक्त अंक में इसी विषय को कवर स्टोरी बनाया गया है। अंदर लेख के ऊपर उसका शीर्षक यह है कि एक दरार की मरम्मत—दुश्मनी का दौर समाप्त हो रहा है:

To mend a rift—An era of hostility is coming to an end.

चीन और रूस के बीच 4500 मील लंबी साझा सीमा है। लेकिन पिछले तीन दशकों से दोनों के बीच संबंध खराब होते जा रहे थे। पूर्व रूसी प्रधानमंत्री निकिता ख़्रुश्चेव ने 1959 में अमेरिका से लौटते समय चीन में थोड़े समय के लिए रुके और माओ ज़े तुंग से मुलाक़ात की थी, जो अप्रसन्नता पर समाप्त हुई। उसके बाद दोनों देशों के किसी सरकारी अधिकारी ने एक-दूसरे के देश का दौरा नहीं किया। कड़ी दुश्मनी के लंबे अंतराल के बाद फ़रवरी 1989 में पहली बार सोवियत रूस के विदेश मंत्री एदुआर्द शेवार्दनादज़े (Eduard Shevardnadze) ने चीन की राजधानी बीजिंग की यात्रा की। इस यात्रा का उद्देश्य peace and development बताया गया था। इस यात्रा में जिन बातों पर सहमति बनी, उनमें से एक यह थी कि रूसी प्रधानमंत्री मिखाइल गोर्बाच्योफ़ जल्द ही चीन का दौरा करेंगे (*टाइम*, 13 फ़रवरी 1989)।

दो प्रतिद्वन्द्वी देशों के बीच इस अप्रत्याशित परिवर्तन के बारे में एक चीनी अधिकारी ने कहा कि बीजिंग और मास्को को इस समय जिन कठिनाइयों का सामना है, उसने हम दोनों को एक-दूसरे के निकट कर दिया है:

> The difficulties that Beijing and Moscow now confront have brought us closer to one another. (p. 7)

एक रूसी अधिकारी ने यही बात अधिक स्पष्ट रूप से इन शब्दों में कही कि हम इस साझा सहमती के बहुत निकट आ चुके हैं कि दोनों देशों में नए संबंध किस प्रकार विकसित किए जाएँ। हम दोनों ने ही अतीत में गलतियाँ की हैं:

> We are very close to understanding how new relations should develop. We have both made mistakes in the past. (p. 6)

जब चीन और रूस ने देखा कि उनकी आपसी दुश्मनी एक-दूसरे को नुक़सान पहुँचा रही है, तो दोनों ने यह तय किया कि वे इस बेफायदा दुश्मनी को समाप्त करके अपने बीच दोस्ताना संबंध स्थापित कर लेंगे। इस नए निर्णय तक पहुँचने के लिए उन्हें अपने अतीत की गलतियों को स्वीकार करना पड़ा। वे एक-दूसरे के विरुद्ध अपने दावों को छोड़ देने पर तैयार हुए। उन्होंने एक ऐसी चीज़ को सहन किया जो सहन करने योग्य नहीं थी, ताकि वे अपने लिए बेहतर भविष्य का निर्माण कर सकें। यही हक़ीक़त–पसंदी है। इस हक़ीक़त–पसंदी के बिना वर्तमान दुनिया में सफलता प्राप्त करना संभव नहीं।

अमेरिका, रूस और चीन वर्तमान दुनिया की सबसे शक्तिशाली राष्ट्र हैं। जब शक्तिशाली राष्ट्र का हाल यह है कि हक़ीक़त–पसंदी और समझौते के सिवा उनके लिए जीवन का कोई और तरीक़ा नहीं है, तो कमज़ोर क़ौमें टकराव की नीति अपनाकर कैसे ज़िंदा रह सकती हैं। ऐसी स्थिति में कमज़ोर राष्ट्रों के लिए हक़ीक़त–पसंदी और समझौते का तरीक़ा उतना ही नहीं, बल्कि उससे भी अधिक आवश्यक है जितना शक्तिशाली राष्ट्रों के लिए।

एक तुलना

लॉर्ड मैकाले (T. B. Macaulay) 1834 में भारत आया। सुप्रीम काउंसिल ऑफ़ इंडिया के एक महत्वपूर्ण सदस्य की हैसियत से उसने वह शैक्षिक व्यवस्था

शुरू की जो बाद में "अंग्रेज़ी शिक्षा–प्रणाली" के नाम से पूरे देश में लागू हो गई। इस शिक्षा–प्रणाली का उद्देश्य, मैकाले के शब्दों में, यह था कि इसके माध्यम से ऐसी पीढ़ी तैयार की जाए जो जन्म से भारतीय हो लेकिन विचारों से अंग्रेज़ हो:

> So that a generation may arise which will be Indian
> in birth and English in thought.

मुसलमानों के सभी धार्मिक और सेक्युलर नेता (सर सैयद को छोड़कर) इस शिक्षा–प्रणाली के विरोध में खड़े हो गए। वे इसकी मुख़ालफ़त में भाषण देने लगे। किसी ने इसे "क़त्लगाह" कहा। किसी ने इसके ऊपर यह शेर चिपका दिया:

> "यूँ क़त्ल से बच्चों के वह बदनाम न होता,
> अफ़सोस कि फ़िरऔन को कॉलेज की न सूझी।"

अधिकतर लोगों ने इस शिक्षा–प्रणाली में भाग नहीं लिया। जो लोग इसमें दाख़िल हो गए थे, वे बीच में ही इसे छोड़कर अलग हो गए। इस विरोधी नीति का परिणाम यह हुआ कि मुसलमान शिक्षा के क्षेत्र में दूसरी क़ौमों से कम–से–कम दो सौ वर्ष पीछे रह गए। वर्तमान समय में मुसलमानों की सभी समस्याओं की जड़ उनका यही पिछड़ापन है, क्योंकि शिक्षा से वंचित होना इंसान को बिना समझ–बूझ का बना देता है, और जो लोग बिना समझ–बूझ के हों, इस दुनिया में उनके लिए बर्बादी के सिवा कोई और अंजाम नहीं होता।

अब एक और दृश्य देखिए। दूसरे विश्व–युद्ध के बाद 1945 में जापान को अमेरिका के मुक़ाबले में हार मिली। उसके बाद अमेरिका राजनीतिक, सैन्य और प्रशासनिक—हर दृष्टि से जापान पर प्रभाव स्थापित हो गया। इस हार के बाद जापान पूरी तरह अमेरिका के नियंत्रण में आ गया। अमेरिका ने जापान की सेना को खत्म कर दिया और उसे हथियार रखने से रोक दिया। साथ ही, जापान की शिक्षा-व्यवस्था में बड़े बदलाव किए गए। दिसंबर 1945 में अमेरिकी जनरल मैकआर्थर ने शिक्षा के बारे में कुछ महत्वपूर्ण निर्देश जारी किए, जिनका मकसद

जापान में युद्ध की मानसिकता को समाप्त करना और लोगों की कट्टर राष्ट्रवादी सोच को बदलना था।

युद्धकाल में बहुत-से शिक्षकों को नौकरी से निकाल दिया गया। धर्म और राजनीति को पूरी तरह एक–दूसरे से अलग कर दिया गया। शिंतो (Shinto) शिक्षाओं को पाठ्यक्रम से बाहर कर दिया गया। इन परिवर्तनों का उद्देश्य यह था कि जापान की आधुनिक पीढ़ी को अमेरिका की पसंद के अनुसार तैयार किया जाए। 1946 में अमेरिका के शिक्षा–विशेषज्ञों की एक टीम बाक़ायदा योजना के तहत जापान पहुँची। इस अमेरिकी टीम ने एक रिपोर्ट तैयार की जिसका नाम था:

Report of the United States Education Mission to Japan.

यह रिपोर्ट उन निर्देशों की व्यावहारिक विस्तृत रूपरेखा थी जिन्हें जनरल मैकआर्थर ने जापान के सर्वोच्च अधिकारी की हैसियत से जापान की शिक्षा–मंत्रालय के नाम जारी किया था। 1947 में जापान में बुनियादी शिक्षा–क़ानून और स्कूल–शिक्षा का क़ानून इसी के अनुरूप बनाया गया। 1948 में जापान का शिक्षा–बोर्ड बनाया गया जिसका कार्य यह देखना था कि जापान की शिक्षा–व्यवस्था अमेरिका की पसंद के अनुसार चलती रहे। इस प्रकार जापान में स्कूल, कॉलेज और विश्वविद्यालय स्तर पर जो शिक्षा–प्रणाली लागू हुई, वह पूरी तरह उस प्रणाली की नकल थी जो अमेरिका में पहले से चल रही थी।

जापानियों ने भारत के मुस्लिम नेताओं के विपरीत, अमेरिका की इस योजना को “शैक्षिक साम्राज्यवाद” कहकर उसके ख़िलाफ़ कोई विरोध या बहिष्कार अभियान नहीं चलाया। उन्होंने एक दिन भी बर्बाद किए बिना अपनी पूरी पीढ़ी को इस “अमेरिकी शिक्षा–प्रणाली” में शामिल कर दिया।

अब इस घटना को लगभग आधी सदी पूरी होने वाली है। इसका जो परिणाम निकला, वह पूरी दुनिया के सामने है। अमेरिका की इस शिक्षा–प्रणाली में पढ़कर जो लोग निकले, वे पूरे अर्थों में “जापानी” ही थे। वे किसी भी दृष्टि से

“अमेरिकी” नहीं बन सके, जैसा कि अमेरिका उन्हें बनाना चाहता था। यहाँ तक कि उन्होंने अमेरिका की सारी उम्मीदों के विपरीत, जापान में एक नया क्रांतिकारी परिवर्तन ला दिया। उन्होंने जापान का एक नया इतिहास रच दिया। उन्होंने उन्नति की ऐसी बाढ़ बहा दी, जिसके बहाव में स्वयं अमेरिका भी टिक न सका। उन्होंने जापान को विश्व–राष्ट्रों की सर्वोच्च पंक्ति में खड़ा कर दिया।

यही आज की दुनिया में तरक्की का राज़ है। यहाँ सफलता और उन्नति उसी को मिलती है जो मुश्किल हालात को अपने लिए अनुकूल बना ले। जो दुश्मन की विरोधी योजनाओं को भी अपने फ़ायदे में बदल ले। जो अपने “नहीं” को “है” में बदलने की क्षमता का सबूत दे। ऐसे ही लोग इस प्रतियोगिता वाली दुनिया में सफल होते हैं। जो इस परीक्षा में असफल हो जाएँ, उनके लिए यही होता है कि वे इतिहास के कूड़ेदान में पड़े–पड़े दूसरों के ख़िलाफ़ विरोध करते रहें—और वहाँ उन्हें कोई सुनने वाला भी न हो।

इस मामले में जैसे हमारे देश का सेक्युलर वर्ग असफल हुआ है, वैसे ही इस्लाम–पसंद वर्ग भी असफल रहा है। उदाहरण के तौर पर अकबर इलाहाबादी और अबुल-आला मौदूदी जैसे लोगों ने अंग्रेज़ी दौर की तालीम-गाहों को “क़त्लगाह” कहा और एक पूरी पीढ़ी को वहाँ जाने से रोकने की कोशिश की।

यह बहुत ही बेकार और नासमझी वाली बात थी। इस्लाम–पसंद नेताओं का असली काम यह होना चाहिए था कि वे मुस्लिम युवाओं को यह समझाते कि वे अंग्रेज़ी तालीम-गाहों से तालीम लें लेकिन उसकी “अंग्रेज़ियत” को न अपनाएँ। पर अपनी सतही सोच के कारण उन्होंने नकारात्मक तरीक़ा चुना, और नतीजा यह हुआ कि मुसलमानों की एक पूरी पीढ़ी शिक्षा में पिछड़कर रह गई। इस मामले में जापान के नास्तिक लोग भारत के धार्मिक लोगों से ज़्यादा समझदार निकले।

उच्च सफलता

1986–87 के सिविल सेवा परीक्षाओं में प्रारम्भिक परीक्षा (preliminary test) में पूरे देश से लगभग 94 हज़ार उम्मीदवार शामिल हुए। इनमें से केवल दस हज़ार उम्मीदवारों को लिखित परीक्षा (Main examination) में बैठने के योग्य माना गया। इस चरण के बाद सत्रह सौ उम्मीदवारों को इंटरव्यू के लिए चुना गया। इंटरव्यू के बाद जिन उम्मीदवारों को अंतिम रूप से उच्च सरकारी सेवाओं के लिए योग्य ठहराया गया, उनकी संख्या 855 थी।

इन परीक्षाओं का अंतिम परिणाम 8 जून 1987 के अख़बारों में छपा। इसके साथ सफल उम्मीदवारों की सूची भी दी गई थी। लोगों ने देखा कि इतनी लम्बी प्रक्रिया और कड़ी जाँच के बाद पूरे देश में जिन लोगों को सिविल सेवा के लिए योग्य माना गया है, उनमें सबसे पहला नाम "आमिर सुबहानी" का है। इस उच्च राष्ट्रीय परीक्षा में आमिर सुबहानी ने टॉप स्थान प्राप्त किया था। यह एक उदाहरण ही यह दिखाने के लिए पर्याप्त है कि इस देश में मुसलमानों के लिए आगे बढ़ने और उच्चतम सफलता प्राप्त करने के अवसर खुले हुए हैं। उनकी तरक़्क़ी के मार्ग में पक्षपात या भेदभाव कोई स्थायी बाधा नहीं है।

भारत की कुल आबादी में मुसलमान लगभग 12 प्रतिशत हैं। इस अनुपात के अनुसार 855 की सूची में कम से कम 100 मुसलमानों के नाम होने चाहिए थे। लेकिन वास्तव में केवल ग्यारह मुसलमान ही सफल उम्मीदवारों की सूची में शामिल हो सके। आम तौर पर मुसलमान यह सोचते हैं कि इसकी वजह से पक्षपात हो रहा है। लेकिन सिविल सेवा परीक्षाओं की प्रक्रिया पर ध्यान देने से साफ़ होता है कि यह बात बिल्कुल निराधार है।

सिविल सेवा की लिखित परीक्षा में उत्तर-पत्रिकाओं (answer sheets) पर उम्मीदवारों के नाम नहीं लिखे जाते। वहाँ केवल कोड नंबर दिए जाते हैं। ऐसी स्थिति में जाँच करने वाले के लिए यह जानना संभव नहीं होता कि उम्मीदवार

किस समुदाय से है। इसके बाद दूसरा चरण इंटरव्यू का होता है। इंटरव्यू बोर्ड पाँच से सात सदस्यों का होता है। हर सदस्य अपने विषय का विशेषज्ञ होता है। अगर ये सदस्य पक्षपाती और संकीर्ण सोच वाले हों, तो कोई मुसलमान न आई.ए.एस. में चुना जाए और न ही कोई मुसलमान टॉप कर सके। लेकिन अगर मान भी लिया जाए कि किसी हद तक पक्षपात मौजूद है, तब भी वह मुसलमानों की प्रगति के रास्ते में कोई बड़ी रुकावट नहीं बन सकता।

इसकी वजह परीक्षा का पूरा सिस्टम है। लिखित परीक्षा कुल 1800 अंकों की होती है, जबकि इंटरव्यू केवल 250 अंकों का होता है। अब अगर पक्षपात की वजह से इंटरव्यू में किसी उम्मीदवार को कम अंक दे दिए जाएँ, तो भी सिर्फ इंटरव्यू में कम अंक आने से उसे असफल नहीं ठहराया जा सकता—बशर्ते कि उसने लिखित परीक्षा में अच्छे अंक लिए हों। क्योंकि जब अंतिम सूची बनाई जाती है, तो लिखित परीक्षा और इंटरव्यू दोनों के अंकों को जोड़कर कुल अंक निकाले जाते हैं। यह नहीं होता कि केवल इंटरव्यू के अंकों के आधार पर फैसला कर दिया जाए।

यहाँ एक महत्वपूर्ण बात यह है कि आमिर सुबहानी साहब ने लिखित परीक्षा में कुल मिलाकर 64 प्रतिशत अंक लिए, जबकि इंटरव्यू में उन्हें 74 प्रतिशत अंक मिले—यानी इंटरव्यू में 10 प्रतिशत ज़्यादा। मिस्टर सुबहानी से पूछा गया कि उन्होंने सिविल सेवा परीक्षा की तैयारी कैसे की थी। इस बारे में उन्होंने बताया कि छह महीने तक वे रोज़ाना 12 से 14 घंटे तक पढ़ाई करते थे। इससे पहले भी उन्हें देर रात तक पढ़ने की आदत थी। वे पाठ्य–पुस्तकों के अलावा इंडियन ऐंड फ़ॉरेन रिव्यू (Indian and Foreign Review), योजना और इंडिया टुडे (India Today) को नियमित रूप से पढ़ते थे। इसके अतिरिक्त वे दिल्ली से निकलने वाले कई अंग्रेज़ी अख़बार रोज़ाना पूरा-पूरा पढ़ते थे।

असल बात यह है कि मिस्टर आमिर सुबहानी की असाधारण सफलता का राज़ उनकी असाधारण मेहनत है। वे अपनी मेहनत की वजह से मैट्रिक से लेकर एम. ए. तक हमेशा उत्कृष्ट अंकों से पास होते रहे। उनसे पूछा गया कि

अपने अनुभव के आधार पर वे आई.ए.एस. परीक्षा में शामिल होने वाले युवाओं को क्या सलाह देंगे। उन्होंने कहा: कठोर परिश्रम और अपने लक्ष्य को पाने की पूरी कोशिश।

(8 जून 1987 के अंग्रेज़ी अख़बार, *नई दुनिया*, 30 जून 1987, *ब्लिट्ज़* 15 अगस्त 1987)

भारत में मुसलमानों के लिए काम के दो क्षेत्र हैं। एक माँग और विरोध-पर्दर्शन का क्षेत्र और दूसरा मेहनत और संघर्ष का क्षेत्र। हमारे नेता पहले क्षेत्र में सक्रियता की निशानी हैं, और आमिर सुबहानी जैसे लोग दूसरे क्षेत्र में सक्रियता की निशानी। हमारे सभी नेता पिछले पचास वर्षों से टकराव के रास्ते पर चल रहे हैं। वे दूसरे पक्ष को दोषी ठहराकर उसके ख़िलाफ़ लगातार विरोध की मुहिम चलाए हुए हैं। दूसरी ओर हमारी क़ौम में आमिर सुबहानी जैसे लोग भी हैं जिन्होंने दूसरे पक्ष से ध्यान हटाकर अपनी मेहनत पर भरोसा किया और अपनी व्यक्तिगत संभावनाओं को उभारने में लग गए।

अब व्यवहारिक परिणाम को देखें, तो नेताओं का तरीक़ा मुसलमान समुदाय के लिए पूरी तरह बे–नतीजा साबित हो रहा है। इस रास्ते से समुदाय को एक प्रतिशत भी कोई सकारात्मक लाभ नहीं मिला। इसके विपरीत, जो लोग आमिर सुबहानी वाले रास्ते पर चले, वे हमेशा सफल रहे। उनकी कोशिशों से हमेशा सकारात्मक परिणाम मिलता रहा।

ये दोनों तरह की मिसालें साफ़ तौर पर बताती हैं कि मुसलमानों को इस देश में क्या करना चाहिए। उन्हें नेताओं के बताए हुए रास्ते को पूरी तरह छोड़ देना चाहिए और "आमिर सुबहानी" वाले रास्ते को पूरी तरह अपनाना चाहिए। यही एकमात्र रास्ता है जिस पर चलकर मुसलमान सफलता की मंज़िल तक पहुँच सकते हैं।

इसमें एक सबक़ है

मौलाना इकरामुद्दीन क़ासमी (जन्म 1938) डमरावाँ (ज़िला भागलपुर) के रहने वाले हैं। 7 फ़रवरी 1990 की मुलाक़ात में उन्होंने अपने कुछ अनुभव बताए, जिनमें बहुत बड़ा सबक़ है।

यह घटना 1966 की है। मौलाना इकरामुद्दीन साहब ने गंगा को स्टीमर से पार किया। वे बरारी रेलवे स्टेशन पर भागलपुर जाने वाली पैसेंजर ट्रेन में सवार हो गए। ट्रेन में भीड़ थी। एक जगह सीट पर डाल्डा का डिब्बा रखा हुआ था। वह डिब्बा सरका कर वहाँ बैठ गए।

कुछ देर बाद एक हिंदू युवक आया। यह डिब्बा उसी का था। वह इसे सीट पर रखकर बाहर चला गया था। जब उसे पता चला कि डिब्बा हटाया गया है, तो उसने पूछा कि इसे किसने हटाया है। मौलाना इकरामुद्दीन साहब ने कहा कि मैंने यह हटाया है। यह सुनते ही वह बहुत गुस्से में आ गया, क्योंकि उसके विश्वास के अनुसार एक मुसलमान ने उसे छूकर डिब्बे को अपवित्र कर दिया था। उसने कहा कि इस डिब्बे में गंगाजल था। इसे लेकर मैं देवघर जा रहा था। तुमने इसे अपवित्र कर दिया है, अब यह ले जाने लायक नहीं रहा। वह गुस्से में अपने आपे से बाहर था। बहुत तेज़ और भड़काऊ आवाज़ में बार–बार कह रहा था कि तुमने मेरे गंगाजल को अपवित्र कर दिया।

मौलाना इकरामुद्दीन साहब ने उसकी बातों पर कोई असर नहीं लिया। वे शांत होकर उठ खड़े हुए और सीट युवक के लिए खाली कर दी। उन्होंने कहा कि मुझे नहीं पता था कि इस डिब्बे में गंगाजल है और मेरे छूने से यह अपवित्र हो जाएगा। मुझसे गलती हो गई, मुझे माफ़ कर दो।

हिंदू युवक उनके ख़िलाफ़ चिल्लाता रहा और वे बिना किसी प्रतिक्रिया के चुपचाप उसकी बातें सुनते रहे। यह देखकर डिब्बा (कोच) के सभी हिंदू उस युवक के ख़िलाफ़ हो गए और मौलाना इकरामुद्दीन साहब का समर्थन करने लगे। उन्होंने युवक से कहा कि जब मौलाना चुप हैं और अपनी गलती मान रहे

हैं, तो तुम क्यों इतना चीख–चिल्ला रहे हो। उन्होंने मौलाना इकरामुद्दीन साहब से कहा कि आप बिलकुल निश्चिंत रहिए। यह आपका कुछ नहीं बिगाड़ सकता।

आख़िरकार हिंदू युवक चुप हो गया। मौलाना इकरामुद्दीन साहब अपनी जगह पर खड़े रहे। कुछ देर बाद युवक ने नज़रअंदाज़ करते हुए मौलाना इकरामुद्दीन साहब से पूछा कि आप कहाँ से आ रहे हैं। उन्होंने बताया कि खड़क बाज़ार से (उस समय मौलाना उसी स्थान पर रहते थे)। युवक ने कहा कि खड़क बाज़ार में एक मौलाना इकरामुद्दीन हैं, क्या आप उन्हें जानते हैं? वह बहुत अच्छे आदमी हैं। मेरी माँ उनके पास गई थीं और उनसे तावीज़ लिया था। उस तावीज़ से बहुत फ़ायदा हुआ। मैं उनसे मिलना चाहता हूँ।

मौलाना इकरामुद्दीन साहब ने मुस्कुराते हुए कहा कि अभी वह सफ़र पर हैं। कल तक वह वहाँ पहुँच जाएँगे। तब आप उनसे मिल सकते हैं। हिंदू युवक ने पूछा कि आपको कैसे मालूम हुआ कि वह सफ़र पर हैं। उन्होंने जवाब दिया कि जिस मुसाफिर से तुम बात कर रहे हो, वही मौलाना इकरामुद्दीन हैं।

यह सुनते ही हिंदू युवक ने मौलाना इकरामुद्दीन के पाँव पकड़ लिए। उसने कहा कि मुझे माफ़ कर दीजिए। मुझसे बहुत बड़ी गलती हो गई। इस गलती पर मन करता है कि मैं खुद को मार लूँ। वह युवक अपनी सीट से उठकर खड़ा हो गया और ज़ोर देकर मौलाना इकरामुद्दीन साहब को अपनी जगह पर बिठा दिया। उसके बाद वह आख़िरी स्टेशन तक वहीं खड़ा रहा। अगले स्टेशन पर जब दोनों उतरे, तो युवक ने ज़ोर देकर मौलाना को नाश्ता कराया। मौलाना इकरामुद्दीन साहब ने इस तरह की और कई घटनाएँ सुनाईं और उन्होंने कहा कि हिंदुओं में जो नैतिकता हमने पाई, वह नैतिकता हमें वर्तमान मुसलमानों में नहीं मिली।

इसी तरह उन्होंने बताया कि 1982 में मैं तरावीह पढ़ाने के लिए बैंगलोर गया था। एक दिन मैं हग्नोर से कोरम हल्ली स्कूटर से जा रहा था। रास्ते में मेरे स्कूटर का पेट्रोल खत्म हो गया। कुछ दूर तक मैं स्कूटर को धकेलते हुए ले गया। फिर सड़क के किनारे एक नारियल का बाग़ दिखाई दिया। वहाँ एक कार खड़ी हुई

थी। मैं बाग़ में गया। वहाँ एक हिंदू बैठा हुआ था। मुझे देखते ही उसने अपने आदमी से कहा कि एक कुर्सी ले आओ। मुझे कुर्सी पर बिठाकर पूछा कि हज़रत क्या काम है? मैंने कहा कि मेरी गाड़ी में पेट्रोल खत्म हो गया है। यहाँ से आठ किलोमीटर दूर जाने पर मुझे पेट्रोल मिल सकेगा। मैं कार देखकर यहाँ आ गया कि शायद यहाँ से मुझे पेट्रोल मिल जाए।

उस हिंदू ने तुरंत अपने ड्राइवर से कहा कि देखो, अगर बाहर पेट्रोल हो तो इसे हज़रत की गाड़ी में डाल दो और अगर बाहर न हो तो अपनी गाड़ी से निकालकर इन्हें पेट्रोल दे दो। पेट्रोल लेने के बाद मैंने अपनी जेब से बीस रुपये का नोट निकाला ताकि पेट्रोल की कीमत अदा कर सकूँ। अब हिंदू तुरंत हाथ जोड़कर खड़ा हो गया। उसने कहा कि हमें माफ़ कर दीजिए, पैसे की ज़रूरत नहीं है, हमें बस आपकी दुआ चाहिए।

लोगों को ग़ुस्सा दिलाने से बचिए। और यदि किसी कारण से कोई व्यक्ति ग़ुस्सा हो जाए, तो उसके ग़ुस्से का जवाब ग़ुस्से से न दीजिए, बल्कि धैर्य और समझदारी से उसे शांत करने की कोशिश कीजिए। तब आप पाएँगे कि जिसे आप अपना दुश्मन समझते थे, वही आपका घनिष्ठ मित्र बन सकता है।

हर आदमी अल्लाह का बनाया हुआ है। इस दुनिया में कोई ऐसा आदमी नहीं है जिसे अल्लाह के अलावा किसी और ने पैदा किया हो। इसका मतलब है कि हर आदमी के अंदर वही फ़ितरत है जो किसी दूसरे के अंदर भी है। हर आदमी के अंदर अच्छे और बुरे की वही समझ है जो किसी दूसरे के अंदर भी पाई जाती है।

हालाँकि इसी के साथ ही हर आदमी के अंदर अहंकार (ego) भी होता है। यही "अहंकार" सारी बुराईयाँ पैदा करता है। मगर अल्लाह ने अपनी रहमत से हर आदमी के अहंकार को उसके सीने में सुला रखा है। हर आदमी का अहंकार शुरू में सोई हुई अवस्था में रहता है। आपकी समझदारी यह है कि उस आदमी के अहंकार को सोने दें, उसे कभी जगाएँ नहीं।

जब आदमी का अहंकार सो रहा हो तो वह अपनी फ़ितरी स्थिति में होता है।

उस समय वह वही करता है जो सच्ची इंसानियत की मांग है। कोई आदमी तब तक बुरा नहीं बनता जब तक उसके अहंकार को जगा न लिया जाए। समझदार आदमी को चाहिए कि वह दूसरों के अहंकार को जगाने से पूरी तरह बचकर रहे, और यदि कभी किसी का अहंकार जाग जाए तो पहले मौके पर अपने समझदारी भरे रवैये से उस आग को बुझा दे।

जो लोग समझदारी का यह तरीक़ा अपनाते हैं, उन्हें कभी भी दूसरों से शिकायत नहीं होगी, चाहे वे एक ही देश में रहते हों या किसी दूसरे देश में।

जीवन का रहस्य

जापानी लोग खुद को सूरज की संतान मानते हैं। उनका मानना है कि उनकी नस्ल अन्य नस्लों से श्रेष्ठ है। उन्हें यह हक़ है कि वे अन्य देशों पर प्रभुत्व प्राप्त करें। इस मानसिकता ने उनके यहाँ इस नारे को जन्म दिया कि

"East Asia for Japan."

जापानी जाति की यह मानसिकता उसके प्राचीन इतिहास में उसे उग्र बनाती थी। खासकर 1937 से लेकर 1945 तक, वे अपनी इस स्व–निर्मित हक़ के लिए अन्य देशों से लड़ते रहे। शुरुआत में इस युद्ध में जापान को सफलता भी मिली। उदाहरण के तौर पर 1942 में उन्होंने मनीला पर क़ब्ज़ा कर लिया, इसी तरह सिंगापुर, नेदरलैंड और रंगून भी उनके क़ब्ज़े में आ गए। लेकिन अंत में उन्हें एक बड़ी हार का सामना करना पड़ा। आगे बढ़ने की कोशिश में उन्होंने जो हासिल किया था, वह भी खो दिया।

दूसरे विश्व–युद्ध में अमेरिका और जापान एक–दूसरे के प्रतिद्वंद्वी थे। जापान के पास साधारण बम थे, जबकि अमेरिका ने इसके मुकाबले में परमाणु बम तैयार कर लिया था। अब दोनों के बीच शक्ति का संतुलन टूट गया। जुलाई 1945 में अमेरिका ने जापान पर दो परमाणु बम गिराए। जापान की सैन्य शक्ति तबाह

हो गई। अमेरिका को जीत हासिल हुई और जापान के लिए इसके अलावा कोई रास्ता नहीं बचा कि वह अपनी उस स्थिति को स्वीकार कर ले, जिसे एक मुबस्सिर (विश्लेषक) ने अपमानजनक आत्म–समर्पण (humiliating surrender) कहा है (*टाइम*, 13 अप्रैल 1987, पृष्ठ 15)।

अब जापान ने हक़ीक़त–पसंदी का सबूत दिया। 14 अगस्त 1945 को जापान के सम्राट हीरो हीतो ने एक रेडियो संदेश के ज़रिए राष्ट्र के नाम एक संदेश प्रसारित किया, जिसमें उन्होंने कहा था कि हमने यह तय किया है कि आने वाली पीढ़ियों के लिए महान शांति की नींव रखी जाए और इस उद्देश्य के लिए जो सहन नहीं किया जा सकता, उसे सहन किया जाए और जो असहनीय है, उसे सह लिया जाए।

> We have resolved to pave the way for a grand peace for all the generations to come by enduring the unendurable and suffering what is unsufferable.

इस फैसले के अनुसार जापान ने 2 सितंबर 1945 को अपनी हार के दस्तावेज़ों पर हस्ताक्षर कर दिए। उसने जापान पर अमेरिका की सर्वोच्चता को स्वीकार कर लिया।

जापान के लिए यह कोई आसान फ़ैसला नहीं था। जापानी समाज अब तक अपनी व्यक्तिगत श्रेष्ठता की भावना पर खड़ा था, लेकिन अब उसे वास्तविकता को स्वीकार करने वाली सोच अपनानी थी। अब तक वह विदेशी-विरोधी भावनाओं (Anti-foreign sentiments) के साथ जी रहा था, मगर अब उसे आत्म-परीक्षण के ज़रिए अपनी प्रगति का रास्ता खोजना था। उस समय जापान की हालत यह थी कि उसके उद्योग पूरी तरह नष्ट हो चुके थे। "युद्ध अपराधी" कहे जाने वाले जनरल मैकआर्थर को समझौते की शर्तों के विपरीत जापान पर नियुक्त कर दिया गया था। कोरिया, बर्मा, सिंगापुर, ताइवान और अन्य विदेशी उपनिवेशों के अलावा जापान ने अपने कई क्षेत्र भी खो दिए थे, जैसे कराफ़ुतो द्वीप और ओकिनावा। 1946 में जापान में "मैकआर्थर संविधान" लागू किया

गया, जिसे एक पराजित देश को बाहरी शक्ति के प्रभाव में रखने के उद्देश्य से तैयार किया गया था।

यह सब निस्संदेह ऐसी परिस्थितियाँ थीं जिन्हें सहन करना बेहद कठिन था। यही कारण था कि जापान के बहुत-से लोग इस सदमे को बर्दाश्त नहीं कर सके और आत्महत्या कर ली। एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका (1984) में उल्लेख है कि सैन्य कट्टरपंथियों ने सम्राट जापान के उस रेडियो संदेश को राष्ट्र तक पहुँचने से रोकने की कोशिश की, जिसमें आत्मसमर्पण की घोषणा की जानी थी। जब वे इसमें सफल नहीं हुए, तो अपमान और निराशा की भावना से अनेक राष्ट्रवादियों और सैन्य अधिकारियों ने अपनी जान दे दी:

> There were several suicides among the military officers and nationalists who felt themselves dishonoured. (Vol. 10, p. 86)

जापान ने हक़ीक़त–पसंदी का रास्ता अपनाते हुए अपनी स्थिति को नंबर 2 स्वीकार कर लिया। हालांकि इसका मतलब यह नहीं था कि वह हमेशा के लिए दूसरी स्थिति पर राज़ी हो गया है। इसका मतलब केवल यह था कि शक्तिशाली पक्ष से टकराव किए बिना अपने लिए पुनर्निर्माण का एक मौका प्राप्त करना है। इस नीति के तहत जापान ने यह किया कि उसने राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से अमेरिका की सर्वोच्चता को स्वीकार कर लिया और अपनी सभी ऊर्जा को विज्ञान और तकनीक के क्षेत्र में मोड़ दिया। यह प्रक्रिया जारी रही। यहाँ तक कि तीस सालों में इतिहास बदल गया। सैन्य दृष्टि से कमजोर जापान ने आर्थिक दृष्टि से श्रेष्ठ जापान की स्थिति प्राप्त कर ली। जापान ने इलेक्ट्रॉनिक्स और अन्य क्षेत्रों में इतनी उच्च गुणवत्ता वाली वस्तुएं तैयार कीं कि खुद अमेरिका के लोग अपने देश के उत्पादों को छोड़कर जापान के उत्पाद खरीदने लगे।अमेरिका से बेहतर गुणवत्ता में थे और कीमत में भी अमेरिका से कम थीं। इस स्थिति ने अमेरिकी नेताओं को गंभीर चिंता में डाल दिया। अमेरिका के एक राजनीतिक नेता मिस्टर पीट विल्सन (Pete Wilson) ने कहा कि जापान के इलेक्ट्रॉनिक सामान अब टोक्यो को छोड़कर हर जगह सब कुछ नष्ट कर रहे हैं:

> The Japanese semiconductor Godzilla is now destroying everything but Tokyo.

दूसरे विश्व–युद्ध के बाद जापान अमेरिका का क़र्ज़दार हो गया था। अब खुद

अमेरिका जापान का क़र्ज़दार बनने लगा। 1986 में अमेरिका का जो सामान जापान में आया, उसकी कीमत 26 बिलियन डॉलर थी। इसके मुक़ाबले में जापान का सामान जो अमेरिका गया, उसकी क़ीमत 85 बिलियन डॉलर थी। इस प्रकार अमेरिका और जापान के बीच व्यापारिक संतुलन टूट गया। 1986 में अमेरिका के मुक़ाबले जापान का ट्रेड सरप्लस 85 बिलियन डॉलर से अधिक तक पहुँच गया। आज अमेरिका दुनिया का सबसे बड़ा क़र्ज़दार देश है और जापान दुनिया का सबसे बड़ा लेनदार देश (*टाइम* 13 अप्रैल, 27 अप्रैल 1987)।

इस स्थिति पर आजकल बहुत सारी किताबें प्रकाशित हो रही हैं। अमेरिका में एक किताब प्रकाशित हुई है जिसका नाम है Japan Number One। यह किताब इस समय अमेरिका में सबसे ज़्यादा बिकने वाली किताब बन चुकी है। 1945 में जापान ने अमेरिका के मुकाबले नंबर 2 की स्थिति स्वीकार कर ली थी। 40 साल बाद खुद अमेरिका को यह मानना पड़ा कि जापान फिर से नंबर 1 की स्थिति प्राप्त करने में सफल हो गया है।

जापानियों ने अपने हाथों से "जापान नंबर टू" (Japan Number Two) किताब लिखी। इसके बाद ही यह संभव हो सका कि दूसरे लोग उनके बारे में ऐसी किताब लिख सकें जिसका नाम "जापान नंबर वन" (Japan Number One) हो। यही वर्तमान दुनिया का क़ानून है। यहाँ जो लोग हार मान लेते हैं, वही जीतते हैं। जो लोग पीछे हटने को तैयार हो जाते हैं, वही फिर से अगली पंक्ति में जगह पाते हैं। इस राज़ को चौदह सौ साल पहले मुसलमानों ने "सुलह–हुदैबिया" के रूप में खोजा था, वर्तमान समय में जापानियों ने इसे अपनी परिस्थितियों के अनुसार अपनी ज़िंदगी में दोहराया है।

असल में यह दुनिया प्रतिस्पर्धा और मुक़ाबले की दुनिया है। यहाँ हर कोई दौड़ रहा है, और हर कोई दूसरों से आगे बढ़ना चाहता है। यही प्रतिस्पर्धा इंसानी प्रगति की सीढ़ी है। इतिहास की सारी प्रगति इसी मुक़ाबले के पेट से निकली है। अमेरिका के नेतृत्व की कोशिश के द्वारा इंसान ने परमाणु शक्ति हासिल की। जापान के फिर से उठने की कोशिश ने इलेक्ट्रॉनिक युग को जन्म दिया, आदि।

इस दौड़ या मुक़ाबले का परिणाम यह होता है कि एक क़ौम दूसरी क़ौम से बार-बार पीछे रह जाती है। बार-बार कोई आगे बढ़ जाता है और कोई पीछे रह जाता है। ऐसी स्थिति में यदि पीछे रह जाने वाला व्यक्ति शिकायत और विरोध में लग

जाए तो वह केवल अपना समय बर्बाद करेगा। उसके लिए एकमात्र रास्ता यही है कि वह इस हक़ीक़त का इकरार करे कि दूसरे उससे आगे बढ़ गए और वह दूसरों से पीछे रह गया।

यह इकरार उसकी कोशिशों को सही दिशा में मोड़ देगा। यह उसे यह मौक़ा देगा कि वह आगे बढ़ने वाले से बेफ़ायदा टकराव किए बिना अपनी पुनर्निर्माण की प्रक्रिया शुरू कर दे। यहाँ तक कि एक दिन ऐसा आएगा जब वह अपना खोया हुआ स्थान फिर से प्राप्त कर लेगा।

अपने पीछे रहने का एहसास इंसान को फिर से आगे बढ़ने का हौसला देता है। जो व्यक्ति अपने पीछे होने का इकरार नहीं करता, वह हमेशा पीछे ही पड़ा रगेगा, और फिर से आगे बढ़ना उसके लिए मुमकिन नहीं होगा।

निर्माण की ताक़त

मई 1990 की घटना है। कराची की एक सड़क पर दोनों तरफ़ से गोलियां चल रही हैं। सड़क के दोनों ओर लोग घायल हो रहे हैं। ज़मीन पर लाशें पड़ी दिखाई देती हैं। कलाशनिकोव (Kalashnikov) से प्रवासियों और सिंधी लोगों के बीच फायरिंग हो रही है। पुलिस के लोग भी डरकर पीछे हट गए हैं।

इसी बीच सायरन की आवाज़ आती है। थोड़ी ही देर में एक एम्बुलेंस सड़क पर दौड़ती हुई दिखाई देती है। जैसे ही एम्बुलेंस सामने आती है, दोनों तरफ़ के लोग अपनी फायरिंग रोक देते हैं। एम्बुलेंस रुकती है, उसके लोग ज़मीन पर पड़ी लाशों और घायलों को उठाकर अपनी गाड़ी में रखते हैं। इस पूरी कार्रवाई के दौरान लड़ाई बंद रहती है। जब एम्बुलेंस चली जाती है तो वही लोग फिर से ऐसे लड़ना शुरू कर देते हैं जैसे वे एक-दूसरे के जानी दुश्मन हों।

यह कराची के अब्दुल सत्तार ईधी (जन्म 1928) हैं। अपनी 30 साल की निःस्वार्थ सेवा से उन्होंने लोगों के अंदर इतना सम्मान पैदा किया है कि जहाँ वे पहुँच जाते हैं, वहाँ लोगों के सिर अपने आप उनके आगे झुक जाते हैं, चाहे वे उपद्रवी हों या आतंक फैलाने वाले।

अब्दुल सत्तार ईधी की पढ़ाई केवल छठी कक्षा तक ही हो सकी थी। 1947 में वे जूनागढ़ पाकिस्तान चले गए। वहाँ वे रोज़ी कमाने के लिए छोटे-मोटे काम

करते रहे। फिर उन्होंने देखा कि पाकिस्तान में एम्बुलेंस सेवा बहुत कमज़ोर है। उनके अंदर सेवा करने की भावना पैदा हुई। उन्होंने क़र्ज़ और चंदे की मदद से एक पुराना ट्रक खरीदा और उस पर पर्दा लगाकर उसे एम्बुलेंस गाड़ी की तरह इस्तेमाल करने लगे।

घायलों और मरीज़ों को अस्पताल ले जाना, लावारिस लाशों को कब्रिस्तान पहुँचाना—इस तरह के कल्याण कार्यों में वे सक्रिय हो गए। उनके सच्चे मन और मेहनत को देखकर लोग मदद करने लगे। उन्होंने और एम्बुलेंस गाड़ियाँ खरीदीं। यहाँ तक कि अब उनके पास 350 गाड़ियों का दल है, जो सभी सायरन, वायरलेस, गैस सिलेंडर आदि से पूरी तरह लैस हैं। इसके अलावा उन्होंने दो हेलीकॉप्टर खरीदे हैं ताकि दूर रहने वाले ज़रूरतमंदों की मदद भी कर सकें।

इसके साथ ही उन्होंने अस्पताल, जच्चाघर, अनाथालय और अलग-अलग प्रकार के कल्याण केंद्र बनाए हैं। अब उन्होंने ग्यारह एकड़ की ज़मीन ली है। यहाँ वे अपने सभी विभाग स्थापित करेंगे। इसी के साथ इसके अंदर हेलीकॉप्टर के रुकने और उतरने का मैदान भी बनाया जाएगा।

30 साल पहले अब्दुल सत्तार ईधी की ग़रीबी का यह हाल था कि उनकी माँ बीमार हुई तो न उनके पास दवा लाने के पैसे थे और न ही उन्हें अस्पताल ले जाने का साधन। उनकी माँ बहुत तकलीफ़ में मर गई। लेकिन माँ की मौत ने उन्हें एक नया जीवन दे दिया। इससे उन्हें बहुत बड़ा झटका लगा। उन्होंने सोचा कि इसी तरह कितने गरीब होंगे जो तकलीफ़ में तड़पते होंगे, लेकिन उनकी मदद करने वाला कोई नहीं होगा।

उन्होंने फैसला किया कि वे जरूरतमंदों की मदद के लिए सेवा का एक केंद्र बनाएंगे। 30 साल पहले उन्होंने यह केंद्र बहुत साधारण परिस्थितियों से शुरू किया था। आज यह इतना बढ़ चुका है कि इसका सालाना बजट 12 करोड़ रुपये है। जिस व्यक्ति का यह हाल था कि बीमारी में अपनी माँ की दवा खरीदने के लिए उसके पास पैसे नहीं थे, वही आज अपने केंद्र में 7500 लोगों के लिए भोजन और कपड़ा उपलब्ध करा रहा है।

अब्दुल सत्तार ईधी को अंतरराष्ट्रीय इनाम (Magsaysay Award) दिया गया है। अमेरिका के बहुत अधिक पढ़े जाने वाले मासिक पत्र रीडर्स डाइजेस्ट (Reader's Digest), जून 1989, ने उनके बारे में एक प्रशंसात्मक लेख छापा था, जिसका सार अल-रिसाला (फ़रवरी 1990) में आ चुका है। नई दिल्ली के

इंडिया टुडे (India Today), 30 जून 1990, ने सात पन्नों की एक तस्वीरों वाली रिपोर्ट छापी है। उसका शीर्षक यह है—पाकिस्तान का फादर टेरेसा

Pakistan’s Father Teresa

निर्माण का काम अपने अंदर बहुत ज़्यादा आकर्षण रखता है। अगर आप सच में किसी रचनात्मक काम का एक नमूना पेश कर दें तो सब लोग आपको मानने पर मजबूर हो जाते हैं, यहाँ तक कि आपके सख्त विरोधी भी।

अब्दुल सत्तार ईधी के सामने एक रास्ता वह भी था, जिसे भारत और पाकिस्तान में कई छोटे स्तर के नेताओं ने अपनाया। यानी समस्याओं का समाधान खोजने के बजाय विरोध और नारों की राजनीति शुरू कर देना। वे एक साधारण अख़बार निकालते, उसमें बड़ी-बड़ी सुर्खियों के साथ जनता की परेशानियों का ज़िक्र करते, सरकारी विभागों के खिलाफ़ मांगों और आंदोलनों की मुहिम चलाते, और गुस्से से भरे युवाओं की भीड़ इकट्ठी करते। फिर यही भीड़ विरोध के नाम पर बसों को जलाती और अस्पतालों जैसी सार्वजनिक सुविधाओं को नुकसान पहुँचाती।

इसी तरह अब्दुल सत्तार ईधी के लिए एक नमूना वह था, जिसे तथाकथित इस्लाम-पसंद लोगों ने पेश किया है। वे “इस्लामी व्यवस्था क़ायम करो” के नारे के साथ सड़कों पर निकल पड़ते। वे जनता और सरकार के बीच वही नफ़रत और टकराव का माहौल बनाते, जो आज के इस्लाम पसंद लोगों ने ग़लत तरीके से हर जगह बना रखा है।

अब्दुल सत्तार ईधी अगर इस तरह के तरीक़े अपनाते तो वे अपने देश की समस्याओं को हल करने के नाम पर सिर्फ़ उन समस्याओं में और बढ़ोतरी करते। इसके विपरीत, उन्होंने यह फैसला किया कि वे खुद इस समस्या को हल करने की ज़िम्मेदारी संभालेंगे। उनका काम चाहे कितना ही छोटा क्यों न हो, पर वे खुद अपने आप से काम की शुरुआत करेंगे।

अब्दुल सत्तार ईधी के इस फैसले का परिणाम यह हुआ कि 40 वर्ष बाद उन्होंने पाकिस्तान में एक ऐसा रचनात्मक इतिहास बना दिया जिसका भारत से लेकर अमेरिका तक सम्मान किया जा रहा है। जबकि इसी समय में उसी देश के दूसरे नेता बर्बादी और नुक़सान के अलावा कोई और इतिहास नहीं बना सके।

कायनात की हर चीज़ एक निश्चित नियम के अधीन है और उसी नियम का पालन करते हुए अपनी मंज़िल तक पहुँचती है। यही सिद्धांत मानव जीवन पर भी लागू होता है। मनुष्य की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि वह जीवन के प्राकृतिक नियमों को समझे और उनके अनुसार अपना मार्ग बनाए। यह पुस्तक बताती है कि दुनिया प्रतिस्पर्धा और योग्यता के सिद्धांत पर आधारित है। संयम, लगन, मेहनत, हौसला, समस्याओं को नज़रअंदाज़ करना और अवसरों का सही उपयोग—यही सफल जीवन के मार्गदर्शक सिद्धांत हैं। इस पुस्तक में इन सभी सिद्धांतों को इतिहास की घटनाओं के ज़रिये समझाया गया है।

PDF

ISBN 978-93-49952-26-3

9 789349 952263

Goodword Books
CPS International